आधुनिक भाषा-विज्ञान

[वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का एक परिचय]
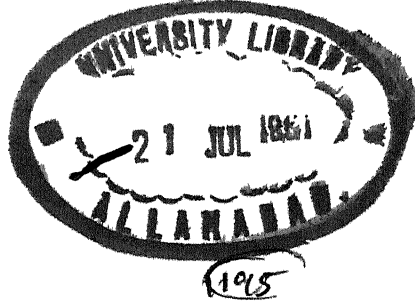
पद्मनारायण, एम० ए०
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, पटना कॉलेज, पटना

ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०,
पटना–४

भूमिका

"वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म"—उपनिषद् के इस वाक्य में शब्द को ब्रह्म कहा गया है। शब्द या वाक् की उपासना भी ब्रह्म की ही उपासना है।

श्री पद्मनारायण जी आज से लगभग छह-सात वर्ष पहले इस उपासना में प्रवृत्त हुए थे जबकि पटना कॉलेज की स्नातकोत्तर-कक्षा में उन्होंने मेरे एक प्रतिभाशाली विद्यार्थी के रूप में भाषा-विज्ञान का अध्ययन प्रारंभ किया था। यह कृति उनकी तल्लीनता और लगन का ही परिचायक है। इस अल्प अवधि में उन्होंने जो गंभीर अध्ययन, मनन और अनुशीलन किया है, उसी का यह परिणाम है। हिन्दी में भाषा-विज्ञान के मौलिक ग्रंथ इने-गिने हैं। भाषा-विज्ञान के विद्यार्थियों को प्रायः अँग्रेजी की ही पुस्तकों पर निर्भर होना पड़ता है। हिन्दी में इस अभाव की पूर्ति के लिए पद्मनारायण जी का यह प्रयास बहुत ही महत्त्वपूर्ण और सफल सिद्ध होगा। इस पुस्तक के तीन अध्यायों में उन्होंने भाषा-विज्ञान के प्रायः सभी आवश्यक पक्षों का पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है। उनकी व्याख्याएँ और विवरण बहुत ही स्पष्ट और सुबोध हैं, जिनसे भाषा-विज्ञान के नये

विद्यार्थी अनायास भाषा-संबंधी सिद्धान्तों का ज्ञान अर्जित कर सकते हैं। सुयोग्य लेखक ने इधर भाषा-विज्ञान में जो नये अनुसंधान हुए हैं और जो नये सैद्धान्तिक और तात्त्विक विवेचन हुए हैं, उन सबसे लाभ उठाया है और जो नये-से-नये विचार प्रस्तुत किये गए हैं उनका भी परिचय देने का प्रयत्न किया है। कई ऐसे नये विषय, जिनका अभी हिन्दी में सम्यक् विवेचन नहीं हुआ है, इसमें सम्मिलित किये गये हैं, जैसे भाषा का भूगोल।

भाषा-विज्ञान की सबसे बड़ी समस्या यह है कि उसमें भाषा के द्वारा ही भाषा का विवेचन करना पड़ता है। वहाँ भाषा ही साधन है और साध्य भी। इसलिए विवेचन के लिए उपयुक्त शब्द ढूँढ पाना कठिन होता है। प्रत्येक शब्द का, प्रत्येक वाक्य का बहुत सोच-सोच कर प्रयोग करना पड़ता है। पारिभाषिक शब्दावली की समस्या और भी कठिन हो जाती है। मैंने पहले-पहल जब इस विषय में लिखना प्रारंभ किया, तो इसी कठिनाई का सामना करना पड़ा था और इसीलिए हमने सर्वप्रथम भाषा-विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली तैयार की, जो पटना विश्वविद्यालय द्वारा विद्वानों के विचारार्थ प्रकाशित की गई। इस कार्य में मैंने अपने अन्य सहकर्मियों से भी पर्याप्त सहायता ली, जिनमें

डॉ० सुधाकर झा और डॉ० ईश्वरदत्त के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। हमारी शब्दावली का अनेक मित्रों ने अपने ग्रंथ में उपयोग किया है और उनके आधार पर और भी अनेक नये शब्दों का निर्माण किया है। हर्ष की बात है कि पद्मनारायण जी ने भाषावैज्ञानिक शब्दावली का और अधिक विस्तार किया है और अपने इस ग्रंथ में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों को तीसरे अध्याय के १२ वें प्रकरण में संगृहीत कर दिया है। इस शब्दावली से, मुझे विश्वास है, इस विषय के विद्यार्थियों और अन्य लेखकों को बहुत लाभ होगा। इसी प्रकार उनकी दी हुई आकर साहित्य-सूची भी अध्येताओं और अनुसंधित्सुओं के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

हमारे प्रातिशाख्यों, शिक्षा-ग्रंथों, व्याकरण तथा काव्य-शास्त्र में भाषा-विज्ञान के विविध पक्षों का बड़ा गंभीर विवेचन किया गया है। उनमें कई ऐसे तथ्य है जिन तक आज के विज्ञान के युग में भी लोग अब तक नहीं पहुँच पाए हैं। पाणिनि का अष्टाध्यायी वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान का आज भी सर्वश्रेष्ठ नमूना माना जाता है। परन्तु इधर हम इस विषय के अध्ययन में पिछड़ गए थे। इसके विपरीत पाश्चात्य विद्वानों ने, जब से उन्हे संस्कृत भाषा का परिचय हुआ तब से, इस क्षेत्र में असाधारण प्रगति की है। ऐसी दशा में हमें

एक ओर जहाँ अपने पूर्वजो के द्वारा संचित ज्ञान-राशि से तत्त्व-संग्रह करना है, वहाँ दूसरी ओर पाश्चात्य विद्वानो के भी कार्यों से लाभ उठाना है। अभी इस समय अमेरिका में इस शाखा में नित्य नये-नये अनुसंधान और विचार होते जा रहे हैं। उनकी ओर भी हमें ध्यान देना है। मुझे इस बात का संतोष है कि पद्मनारायण जी ने बहुत ही जागरूकता के साथ इस विकासमान ज्ञान की सभी दिशाओ की ओर दृष्टिपात किया है और एक बहुत विस्तीर्ण पृष्ठभूमि पर भाषा-विज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों की समीक्षा की है। इस ग्रंथ के अध्ययन से, जो भाषा-विज्ञान का क्षेत्रीय कार्य करना चाहते हैं, उन्हे भी लाभ होगा और स्नातकोत्तर कक्षा के विद्यार्थियो तथा अनुसंधित्सुओं की भी ज्ञान-वृद्धि होगी। मुझे पूरा विश्वास है कि पद्मनारायण जी इस क्षेत्र में और भी अधिक उत्साह के साथ अग्रसर होंगे और उनके कृतित्व का समुचित समादर और उपयोग होगा।

आगरा :
मार्च ३, १९६१ ई०
चैत्र कृष्ण १, वसन्तोत्सव,
सं० २०१७ वि, शक १८८२

विश्वनाथ प्रसाद
संचालक
क० मुं० हिन्दी तथा
भाषा-विज्ञान विद्यापीठ,
आगरा विश्वविद्यालय

प्राक्कथन

वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान के अनुदिन शिक्षा-प्रसार के फलस्वरूप ही प्रस्तुत पुस्तक की रचना-प्रेरणा प्राप्त हुई थी। वस्तुतः भाषा-विज्ञान की पुस्तकों को प्रकाशित करने-कराने के लिए हिंदी-प्रकाशकों तथा लेखकों ने अबतक उचित परिसर का निर्माण-कार्य नहीं किया है। कारणभूत तथ्यों को यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि मुद्रण की जटि-लता के साथ ही इसके संकेत-चिह्नों की भी अबतक कोई प्रति-मिति स्थिर नहीं हो सकी है। पाठ्य-क्रम के लिए कुछ पुस्तकें तो अवश्य प्रकाशित की गई हैं; किन्तु व्यापक प्रबुद्ध पाठक-वर्ग की रुचि को इस क्षेत्र के प्रति आकृ? करने में हमारे लोग प्रायः उदासीन ही रहे हैं।

स्नातकोत्तर अध्ययन-क्रम में श्रद्धास्पद डॉ० विश्वनाथ प्रसाद जी का निर्देशन मुझे सौभाग्यवश प्राप्त हुआ था और उनके स्नेहमय सम्पर्क से मुझे सदा प्रेरणा प्राप्त होती रही है। उन्हीं के विचारानुसार बाद में मैंने बोलियों के विश्लेषण के कार्य को अपने शोध का विषय भी बनाया और इस क्रम में मुझे डॉ० सक्सेना, एच० ए० ग्लीसन, फैयरबैंक्स, एमेन्यू, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० कात्रे, डॉ० पॉल फ्रेडरिक आदि विद्वानों का साहचर्य मिला। उनसे मेरे दृष्टिकोण का विस्तार तो हुआ ही, इस प्रकार की पुस्तक लिखने की आकांक्षा भी जगी। इस विचार को क्रियान्वित करने के लिए मैं अपने आचार्य परमादरणीय श्री नलिनविलोचन शर्मा, अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, पटना विश्व-विद्यालय, का सादर कृतज्ञ रहूँगा, जिन्होंने समय-समय पर निर्देशन तथा प्रशासकीय सुविधाओं से मुझे सर्वदा उपकृत किया है।

गुरु-द्वय डॉ० रामखेलावन पाण्डेय तथा डॉ० शिवनन्दन प्रसाद के प्रति मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ। उन्होंने

इसकी पाण्डुलिपि के कुछ अंशों को कृपापूर्वक सुन कर अपने विचारों से मुझे अनुगृहीत किया है।

आदरणीय पं० मदनमोहन पाण्डेय, प्रबंध-निर्देशक, ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मेरी प्रत्येक रुचि-इच्छा का स्नेहपूर्वक आदर कर बड़ी तत्परता से इसे प्रकाशित किया है।

स्पष्ट है, यह पुस्तक बड़ी दुबली हुई। अतः पृष्ठ-चेतनाग्रस्त पाठकों को इसे देखकर थोड़ी निराशा हो; किन्तु उन्हें मैं आश्वस्त करना चाहता हूँ कि इसके अंतर की प्राणधारा निर्बल नहीं है। बड़ी शीघ्रता से इसका लेखन-प्रकाशन हुआ। इसलिए इच्छा रहते हुए भी, मैं कई अन्य उपयोगी समस्याओं पर विचार नहीं कर सका। दूसरे संस्करण में इसके वर्द्धन और मार्जन का प्रयत्न मैं अवश्य करूँगा।

इस पुस्तक के लिखने में मुझे बहुत-सी पुस्तकों की सहायता लेनी पड़ी है। उनका उल्लेख मैंने अपेक्षित स्थलों पर कर दिया है। भाषा-मानचित्र तथा वागिन्द्रियों के रेखा-चित्र मैंने 'सामान्य भाषा-विज्ञान' से लिए हैं। अतएव मैं डॉ० सक्सेना का कृतज्ञ हूँ।

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ने अपने व्यस्त जीवन में भी, प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका लिखने की कृपा की, यह उनके हार्दिक स्नेह का ही परिणाम है। मैं उनका आभार स्वीकारता हूँ।

श्री राधावल्लभ जी तथा श्रीमती मालती सिंह ने प्रूफ तथा इसकी प्रेस कॉपी तैयार करने मे मेरी सहायता की है, एतदर्थ इन्हें मैं धन्यवाद देता हूँ।

हिन्दी-विभाग,
पटना कॉलेज, पटना,
रामनवमी, संवत् २०१८

पद्मनारायण

अनुक्रमणिका

श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु

पिताजी

को

श्रद्धापूर्वक

—प० ना०

आधुनिक भाषा-विज्ञान

भाषा
की
भाषिकेतर पद्धतियाँ

मनुष्य का कोई भी कार्य वस्तुतः उसके मानसिक प्रभाव की अभिव्यक्ति है। उत्तेजना अथवा प्रभाव और उत्तर या अभिव्यक्ति उसकी आधारभूत मौलिक शारीरिक प्रकृतियाँ हैं। जब कोई आपके पैर में सूई चुभोता है तब आपकी मानसिक प्रतिक्रिया क्या होती है? यह सर्वथा आप पर निर्भर करता है कि या तो आप अपना पैर हटा लें या उस दुःख के उन्मूलन के लिए प्रयास करें या केवल आह, ओह कह कर रह लें। उत्तेजना का प्रभाव आप विभिन्न इन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण करते हैं और तदनुसार उसकी अभिव्यक्ति की प्रणाली भी विभिन्न क्रिया-व्यापारों द्वारा प्रकाश पाती है।

भाषा से भिन्न जिन भाषिकेतर पद्धतियों से यह उत्तेजना अथवा अर्थ ग्रहण करते हैं, उनको आप इस प्रकार भी समझें कि मान लीजिये, आप किसी राजपथ पर अपनी गाड़ी में बैठ कर जा रहे हैं। बिना किसी अक्षर के आप सड़क के किनारे एक पट पर कुछ चिह्न[१] अंकित पाते हैं और दूर की भयानक परिणति

---

१. All symbols are signs, but signs may or may not be symbols. Signs may point to past, present, or future events : for example a wet roof is a sign to me it has rained; a rainbow in the sky is a sign that somewhere it is raining; a red sky in the morning is a sign that it will probably rain.
Susanne K. langer : Philosophy in a New key. P. 57.

से ज्ञात होकर आप अपनी दिशा बदल देते हैं। इसी प्रकार पट-अंकित दौड़ते हुए बालक देखकर आगे कोई स्कूल होगा, टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं से सड़क के मोड़ का, दो समानान्तर रेखाओं की काट से आगे पुल होने का, आप बड़ी सुगमता से बोध पा जाते हैं। क्रमशः शिक्षा और साक्षरता के फलस्वरूप अब ये चिह्न-पट उत्तरोत्तर अक्षर-पट में परिवर्त्तित हो रहे हैं। इसी प्रकार आप प्रकाश तथा शारीरिक संकेतों के माध्यम से भी कुछ प्रभाव ग्रहण करते हैं। लाल रोशनी से आप अपनी गाड़ी रोक देते हैं, पीली से आप समझ जाते हैं कि अब जाने का उपक्रम करना चाहिए और हरी रोशनी होते ही आप बड़ी निर्भयतापूर्वक गाड़ी लेकर चल देते हैं। और यह क्या, आप थोड़ी दूर भी नहीं गए हैं कि पीछे से एक दूसरी गाड़ी की आवाज़ आप तक पहुँचती है। आप अपना हाथ बाहर निकाल कर हिला देते हैं और पीछे वाला यह समझ जाता है कि आगे वाली गाड़ी को पार करने में कोई खतरा नहीं है; वह पार कर लेता है।

मनुष्य के स्वर-यंत्र द्वारा उत्पादित सार्थक ध्वनि तथा दूसरे व्यक्ति के श्रुति-पट द्वारा ग्रहीत, भाषा की इस शाब्दिक परिभाषा के अन्तर्गत इन उपर्युक्त प्रणालियों को यद्यपि हम नहीं रख सकते, फिर भी यदि अर्थ-प्रेषण ही भाषा का अभीष्ट हो, तो इनमें और बोली एवं लिपि में क्या कोई वस्तुगत वैभिन्न्य प्रतीत होता है?

ऐतिहासिक पुष्टि हमारे पास वर्त्तमान है कि मनुष्य द्वारा प्रयुक्त संकेतों, चित्रों, चिह्नों आदि की पद्धतियाँ सभ्यता के अभिचैतन्य मे प्रयुक्त किये जाने वाले ध्वनि प्रतीकों से किसी भी अंश में हीनतर नहीं हैं। अर्थ-प्रेषण की क्षमता वस्तुतः बोली तथा लिपि से कोई संबध नहीं रखती है। वैचारिक उत्तर-दायित्व को वहन करने की अन्य अनेक पद्धतियाँ हैं। ऐतिहासिक विकास-क्रम को सामने रखकर यदि विचार करें, तो यह स्पष्ट हो

जायगा कि मनुष्य-जाति ने अपना मुँह खाने-पीने तथा साँस लेने के लिए ही सुरक्षित रखा था, भाषा-उत्पादन तो इन अंगो के सहायक कार्य है।

कुछ भाषिकेतर प्रणालियाँ मौखिक बोली से सादृश्य रखती हैं और कुछ लिपि से। लिपि वस्तुतः मौखिक बोली की अनुचरी है, जो सामान्यतः व्यवहार करने वाले समाज द्वारा पूर्व स्वीकृत लिखित प्रतीक हैं। मौखिक बोली का सादृश्य रखने वाली भाषिकेतर प्रणालियों में सीटी भाषा (whistling language) मुख्य है। प्रधानतः केनारी द्वीप के गोमेरा निवासियो द्वारा इसका प्रयोग किया जाता है। सुना है कि लगभग छह मील पर स्थित एक व्यक्ति दूसरे से बड़ी अच्छी तरह इस भाषा के माध्यम से अपने विचारो का आदान-प्रदान करता है। इस भाषा के द्वारा केवल एक ही आधारभूत भाव की हम अभिव्यक्ति कर सकते है, इसलिए बहुत-से भाषा-वैज्ञानिक इसे भाषा का सामान्य स्तर देना नहीं चाहते हैं, क्योकि समर्थ भाषा निश्चित रूप से अनेक भाव-दशाओ की सूचक होती है।

लिपि-सादृश्य में चित्रो तथा रस्सियो की पद्धतियाँ उल्लेख्य हैं। लिपि का इतिहास मुख्यतः चित्र-प्रतीको के विकास का ही इतिवृत्त है। रस्सियो की ग्रंथियाँ सामान्य जीवन में जहाँ किसी के विचारो को याद दिलाने का प्रयास करती हैं, वहाँ लेन-देन के व्यापार में मन-सेर के गणित का सुलझाव भी हमें देती हैं। रस्सियो का यह प्रतीक मात्र हमारे यहाँ ही नहीं है, वरन् दक्षिणी अमेरिका, चीन, पश्चिम अफ्रिका, आस्ट्रेलिया आदि देशो में भी है। वहाँ तो लाल रस्सी से सेना, पीली से सोना उजली से चाँदी, हरी से अन्न आदि के प्रतीक ग्रहण किये जाने की पद्धतियाँ हैं।

भाषिकेतर पद्धतियो में मुद्रा-संकेतो का सादृश्य उपर्युक्त दोनो ही रूपो से भिन्न है। इसे हम न तो बोली के समीप पाते

हैं और न लिपि के। वस्तुतः दोनों से पृथक होकर स्वतन्त्रतापूर्वक इसने अपना विकास किया है। विद्वानों ने अनुमित किया है कि मनुष्य अपनी आकृति, भंगिमाओं, बाँहों की गति, कलाई, उँगलियों आदि के संयोग से लगभग सत्तर हजार मुद्रा-संकेत बना सकता है और इस प्रकार यह किसी भी समुन्नत आधुनिक भाषा की समकक्षता प्राप्त कर सकता है।[1] मुद्रा-संकेत की पद्धति आज भी विकासशील है। मुद्रा-संकेतों ने विज्ञान के रूप में (Pasimology) अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में अपनी सत्ता भी स्थिर कर ली है। भारतीय नाट्यशास्त्र में केवल प्रेम-दशा की अभिव्यंजना के लिए ही लगभग दो सौ मुद्राएँ हैं। इससे पृथक हम मु्द्रा-संकेत की भाषा गूँगों, वायुयान तथा मौसम की सूचना देनेवाले केन्द्रों में यथेष्ट रूप से प्रयुक्त होते हुए देखते हैं। स्काउटों के संकेतों ने एक प्रकार से विश्व-स्तर पर अपनी मान्यता प्राप्त कर ही ली है। मुद्रा-संकेतों की इस विवेचना में यह अवधेय है कि जिस प्रकार भाषा की भौगोलिक सीमा है, प्रायः उसीके अनुरूप मुद्रा-संकेतों की भी व्यावहारिक परिधियाँ हैं। भारत में हम पैर छूकर अथवा दोनो हाथ जोड़कर नमन करते हैं, वहाँ दूसरे स्थानों में अपनी विनय प्रकट करने की दूसरी भिन्न पद्धतियाँ हैं—कहीं नाक में नाक मिलायी जाती है, कहीं थोड़ा झुककर हाथों को मुक्त रूप से हिला दिया जाता है, इत्यादि।

मुद्रा-संकेतों की अभिव्यक्ति-सम्पन्नता को लेकर यह समस्या उठायी जा सकती है कि मौखिक बोली का स्वरूप जब मुद्रा-संकेत

---

1. It is estimated that some seven hundred thousand distinct elementary gestures can be produced by facial expressions, postures, movement of the arms, wrists, fingers etc. and their combinations. This imposing array of gestural symbols would be quite sufficient to provide the equivalent of a full-blown modern language.
Dr. Mario Pci : The story of language p. 13.

के पश्चात् बना है, तब मौखिक बोली से अधिक संतोषजनक विकास इससे क्यों नहीं संभव हो सका? यद्यपि शंका सत्य है, तथापि मुद्रा-संकेतों की अपनी शक्ति-सीमा भी है। प्रथमतः अभिव्यक्ति-प्रेषण अवधि में हमारे हाथ मुक्त नहीं रह सकते, द्वितीयतः और मुख्यतः यह कि केवल प्रकाश तथा दृश्य-परिधि के अंतर्गत ही हम इनका प्रयोग कर सकते हैं। मौखिक बोली को सामान्यीकृत करने में उसकी पूरक लिपि का अपेक्षाकृत अधिक योग है, जिसके कारण भी मुद्रा-संकेतों का विकास अधिक नहीं हो सका।

भाषोत्पत्ति के सिद्धांत

किसी भी विकास के मूल की स्वाभाविक जिज्ञासा तथा उसे वैज्ञानिक तर्क के निकष पर परखने की चेष्टा हमारी बौद्धिक चेतना का परिणाम है। किंतु भाषा की उत्पत्ति के संबंध में यदि भाषाविद् एक तथ्य पर सहमत हैं, तो वह है इसकी उत्पत्ति की अनिश्चयात्मकता और इसलिये वे कहते हैं कि यह समस्या भाषा के दर्शन (Philosophy of Language) से जितना अपना संबंध रखती है, उतना भाषा के विज्ञान (Science of Language) से नहीं। फिर भी हमारे यहाँ इसके उद्गम को लेकर कई विचार सिद्धांत हैं, जिनका संक्षिप्त आलोचनात्मक परिचय निम्न हैं :

धर्म-सूत्रों द्वारा जो विचार आए हैं उनके अनुसार भाषा ईश्वर-प्रदत्त है। इस पौराणिक विश्वास की पुष्टि अभी हाल तक भी की जाती रही है। १७ वीं शताब्दी में एक स्वीस भाषा वैज्ञानिक ने बड़ी गंभीरतापूर्वक कहा था कि ईडन उपवन में ईश्वर ने स्वीस भाषा में, आदम ने डेनिश भाषा में और साँप ने फ्रेंच भाषा में अपने विचारों की अभिव्यक्ति की। वहीं सन् १९३४ ई० में तुर्की लिंगुइस्टिक कांग्रेस में यह विचार व्यक्त किया गया था कि विश्व की संपूर्ण भाषाओं की जन्मदात्री तुर्की भाषा है और तुर्की के (Gunes) गूनेस (= सूर्य) शब्द से सबकी उत्पत्ति हुई है। इसी प्रकार भारत में भी संस्कृत आदि भाषा है। ब्रह्मा के मुँह से निस्सृत होने के कारण ही वह देववाणी है। बौद्ध लोग पालि (मागधी) को मूल भाषा के रूप में स्वीकार

करते हैं और कहते हैं कि आदिकल्प के मनुष्य, ब्राह्मण और संबुद्ध इसी का व्यवहार करते थे। जैन लोग अर्द्धमागधी (आर्ष) को मूल मानते हैं तथा इंजिल में विश्वास करने वाले यहूदी (इब्रानी) भाषा को आदिम भाषा मानते हैं। और कहते हैं कि यदि बेबल के मीनार की दुर्घटना नहीं हुई रहती, तो आज भी वह अकेली भाषा समस्त विश्व में प्रचलित रहती।

किंतु ऐसे धार्मिक विश्वासों का आधार इतना अवैज्ञानिक और रहस्यात्मक है कि यह स्वयं अपनी विश्वसनीयता खो देता है। जब भाषा ईश्वर की देन है तब तो मनुष्य पैदा होने के साथ ही उसे सीख कर आता होगा; लोगों का ऐसा अनुमान था। किन्तु कम से कम इन चार अवसरों पर बुद्धिजीवियों की इस धारणा को गहरा आघात लगा है। पहला प्रयोग मिस्र के राजा सैमिटिकोस (Psammetichos), दूसरा सिसली के फ्रेडरिक द्वितीय, तीसरा स्कॉटलैंड के प्रधान जेम्स चतुर्थ तथा चौथा भारत के बादशाह अकबर के द्वारा किया गया। यद्यपि प्रयोगात्मक वैज्ञानिकता के अभाव में इनके निष्कर्ष प्रामाणिक नहीं हो सके, तथापि भेड़िये बालक आदि के उदाहरणों से हम इस विश्वास की तथ्यहीनता सहज ही देख सकते हैं। वस्तुतः बच्चे को जन्म से मानव-समाज से विलग कर उसमें भाषा के तत्त्व हम नहीं खोज सकते।

दूसरा सिद्धांत, जिसे हम अर्द्ध वैज्ञानिक कह सकते हैं, डारविन के विकासवाद पर आश्रित है। संकेतों आदि द्वारा जब मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति पूर्ण रूप से नहीं कर सका, तो अचेतन रूप से उसके शरीर की लयात्मक गति को मुँह तथा ओठ द्वारा अनुकृत करने का प्रयास प्रारंभ किया जाने लगा। इसके परिणाम-स्वरूप ही बाद में मौखिक बोली का विकास संभव हो सका।

किंतु, आज इसकी भी वैज्ञानिक सत्यता शंकाविहीन नहीं है। भाषावैज्ञानिकों में इस विषय को लेकर और कई वाद-सिद्धांत

प्रचलित हैं, जो मुख्य रूप से उत्पत्ति-सिद्धांत की अव्यावहारिकता के साथ ही उनकी कल्पनात्मक परिधि की विस्तीर्णता का परिचय कराते हैं।

बोऊ-बोऊ वाद यह कहता है कि भाषा अनुकरण से उत्पन्न हुई है। कोयल के स्वर से उसे कुहू, बिल्ली की बोली से उसे म्याऊँ कहते हैं। कुत्ता के भूँकने से उसे बोऊ-बोऊ की संज्ञा मिली। किंतु इस सिद्धांत की कठिनाई भी इसी के साथ है कि जहाँ एक अंग्रेज के कानों में वह बोऊ-बोऊ है, वहाँ एक जर्मन के लिए वाऊ-वाऊ, फराँसीसि के लिए नाफ-नाफ (gnaf-gnaf), जापानी के लिए वान-वान (wan-wan) तथा हिंदी-क्षेत्रीय जनता के लिए भौं-भौं। इसी प्रकार अन्य प्राकृतिक ध्वनियों के अनुकरण के संबंध में भी कठिनाइयाँ हैं।

पूह-पूह वाद के अनुसार मनुष्य के आश्चर्य, भय, आनंद, दर्द आदि विस्मयात्मक अवस्थाओं से भाषा का विकास हुआ है। इस सिद्धांत को बहुत-से व्यक्ति यो-ही-हो वाद से भी संयुक्त कर देखते हैं जिसका निष्कर्ष है कि भाषा मनुष्य के श्रम-कार्यों का अनुसारी परिणाम है। परिश्रम की अवधि में अभ्यंतर वायु की अभिव्यक्ति से व्यथा का अंश कम होता है और इसी विश्रामाकांक्षा से भाषा का विकास हुआ है।

टा-टा वाद का भी वही कहना है जो डारविन का कथ्य है कि शारीरिक चेष्टाओं की अनुकृति से ही भाषा का शनैः शनैः क्रमिक विकास हुआ है।

इन वादों की समीक्षा में वस्तुतः तथ्य यह है कि विस्मयादिबोधक अथवा श्रम-परिहारक ध्वनियाँ भाषा के स्थापत्य के मुख्य अंग नहीं हैं। वे मात्र अव्यय के रूप में आते हैं, जिनकी संख्या भी बड़ी परिमित है। केवल मनोराग अथवा आवेश को प्रकाशित कर ही हम अपना संपूर्ण कार्य संपन्न नहीं करते।

भाषा का विकास अनुदिन होता रहता है। पशु-पक्षियों

आदि की भाँति मनुष्य की बोली में हम कोई एक सातत्य अथवा एकरसता नहीं पाते। भाषा के विकास का कारण भी वस्तुतः इसकी उत्पत्ति की भाँति ही अस्पष्ट और अव्याखेय है। भाषा मनुष्य के कार्य-कलापों का प्रकाशन है और जब मनुष्य के कार्य-कलाप विकासशील हैं, तब भाषा के स्वरूप का परिवर्त्तित होता जाना भी अपेक्षित ही है। बहुत-से भाषा-वैज्ञानिक यह धारणा रखते हैं कि कृषि-प्रधान राष्ट्रों की भाषा युद्ध-प्रिय यायावरों के राष्ट्रों से अपेक्षाकृत अधिक स्थिर होती है। उसकी भाषा में बहुत कम और धीरे-धीरे परिवर्त्तन होता है। भौगोलिक अवस्थिति, ऋतु, काल तथा अंतर्संस्कृति-संबंध तो भाषा-विकास के कारण हैं ही, फिर भी इस विकास को समझने के लिए दो वाद उपस्थापित किये गए हैं : धातु वृक्षवाद (Tree-stem theory) और लहरवाद (wave theory)।

धातु-वृक्षवाद के अनुसार जननी भाषा वृक्ष की धड़ के समान है और उसी धड़ से दूसरी-तीसरी नवीन भाषाएँ शाखा-प्रशाखाओं के रूप में अपना जन्म ग्रहण करती चली जाती हैं। लहरवाद इस चित्र को स्पष्ट करता है कि जिस प्रकार तालाब में एक पत्थर फेंकने पर जल की अनगिनत लहरें पैदा होती हैं, उसी प्रकार मूल भाषा से अन्य नवीन भाषाओं-बोलियों की सृष्टि होती चली जाती है।

विकास की इस गति को स्पष्ट करने के बाद भी हमारी मूल समस्या वर्त्तमान रह ही जाती है और यथार्थतः इसी अस्पष्टता और खीझ से भरकर भाषा-वैज्ञानिकों ने यह घोषित कर दिया कि भाषा की उत्पत्ति का अनुसंधान दर्शन की कोटि का है। किंतु वर्त्तमान भाषा-वैज्ञानिक यह कहता है कि भाषा के स्वरूप का अध्ययन जब उसका अभीष्ट है, तब उसकी उत्पत्ति का अनुशीलन करना भी उसी का कर्त्तव्य है। वह बर्बर, असभ्य जातियों तथा बच्चों की बोलियों के अध्ययन में आज भी अहर्निश प्रयत्नशील है कि कहीं उसे भाषा के मूल आधार पर पहुँचने का अवसर प्राप्त हो जाय।

भाषा
का
पारिवारिक संबंध

विश्व की समस्त भाषाओं का मूल एक बीज भाषा है और विभिन्न भाषा-शाखाओं के माध्यम से उस बीज तक प्रत्यक्‌गमन की चेष्टा, भाषा-वैज्ञानिकों का बड़ा ही पुराना सपना है। किंतु खेद है कि भाषा के स्थापत्य और पारिवारिक संबंध का ज्ञान हमें बहुत अल्प है। अनुसंधान की अनुदिन प्रगति से हमारे ज्ञान का क्षितिज बराबर अपनी परिधि का विस्तार तथा दिशा-परिवर्त्तन कर रहा है और इस स्थिति में वैज्ञानिक निश्चयात्मकता के साथ किसी भी संबंध को हम ग्रहण नहीं कर सकते जब तक कि पूर्ण रूप से उस वस्तु का शोध-निष्कर्ष हमें प्राप्त न हो जाय।

पारिवारिक संबंध-निर्धारण के लिए तुलनात्मक दृष्टिकोण ही मुख्य पद्धति है, जिसके द्वारा दो भाषाओं का पारस्परिक संबंध निर्णीत किया जा सकता है। यदि दो भाषाओं के शब्द तथा उनकी व्याकरणिक रचना-पद्धति की अव्यवहित समानता स्पष्ट है, तो इनकी मूल जननी भाषा का आधार हमारे लिये सुलभ हो जाता है। यदि यह समानता आकस्मिक अथवा एक का दूसरे से ऋण-रूप में ग्रहण है, तो दोनों को एक ही श्रेणी में रखने का हमारा उपक्रम फलप्रद नहीं हो सकता। अतः इस संबंध-निर्द्धारण के पूर्व हमें दो बातों पर आवश्यक रूप से विचार करना पड़ता है कि जो शब्द या वाक्य-रचना प्रमाण के लिए हैं, वे

अनिवार्यतः ध्वनि और अर्थ की समानता से भी संवलित हों[1] अन्यथा इस सादृश्य के अभाव में दोनों के लिए हमें दो संबंध कोटियों का निर्माण करना पड़ेगा। इस जन्मगत संबंध को स्पष्ट करने के पूर्व यह भी ध्यान देने योग्य है कि दो भाषाओं के शब्दों और रचनाओं का सादृश्य-प्रमाण पुष्कल परिमाण में हों। थोड़ी-सी समानता संभव है, आकस्मिक संयोग अथवा ऋण हो जिसका भाषा की नियमित रचना-पद्धति से कोई संबंध नहीं है।

भाषा-परिवार का नामकरण दो आधारों पर किया गया है: जाति (race) तथा भौगोलिक सीमा को उद्देश्य मानकर।

भारोपीय-परिवार की भाषाएँ प्रायः समस्त यूरोप, अमेरिका, अफ्रिका के दक्षिणी-पश्चिमी क्षेत्रों में, अस्ट्रेलिया और उत्तरी भारत में प्रचलित हैं। इंडोजर्मनिक, संस्कृतिक, जैफाइट, आय और इन्डोयूरोपीयन इसी के पर्याय हैं। वस्तुतः तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को जन्म देने का गौरव इसी भाषा-परिवार को है। इन बाह्य अभिव्यक्तियों की विविधता के पृष्ठाधार में भी एक ऐसा आश्चर्यजनक ऐक्य-सूत्र वर्त्तमान है कि पिछली कई शताब्दियों में भाषा-पंडितों को विमुग्ध कर इसने यह कल्पना करने के लिए विवश किया कि इन विभिन्न भाषाओं का कोई आदि-स्रोत अवश्य रहा है, जिससे क्रमशः इनका विकास होता गया। १६वीं शताब्दी में एक इतालवी लेखक भारत आया था और उसे संस्कृत, षष्ट्, सप्त, अष्ट, नव, देवः, सर्प तथा इतालवी, सेई, सेत्ते, ओत्तो, नॅवे, दिवो, सर्प में विस्मयपूर्ण अर्थ-ध्वनि की

1. In an estimate of the similarity of languages, items that count as evidence must meet two requirements. They must be alike or traceably similar or regularly correspondant in sound; and they must be alike or similar or related in meaning.

Kroeber : Anthropology today : P. 206.

समानता प्राप्त हुई थी। तब यह वाद में बॉप और ग्रिम-बंधुओं पर ही आधारित रहा जब इन्होंने १६वीं शताब्दी के प्रारंभ में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का अध्ययन अच्छी तरह प्रारंभ किया।

भारोपीय-भाषा-परिवार की इस बृहत्तर परिधि में जितनी भाषाएँ हैं, सबको एक ही शीर्षक के अंतर्गत आलोचित करना बड़ा दुरत्यय कार्य है और इसीलिए इनमें विभिन्न उप-श्रेणियों की कल्पना की गई।

जर्मनिक : इस शाखा में अंगरेजी, जर्मन, डच आदि वर्त्तमान पश्चिमी यूरोप की कई भाषाएँ हैं। अंगरेजी का आधार प्राचीन एंग्लो-सैक्सन बोली है जो एक समय डच और निम्न जर्मन से पूर्णतः संबंधित थी। किंतु सन् १०६६ की नार्मन-विजय के फल-स्वरूप फ्रेंच और लैटिन का इतना प्रभाव पड़ा कि आज इसका स्वरुप ही परिवर्त्तित हो गया है। अंगरेजी का नाम इंगलिस, इसके बोलने वाले ऐंगिल (Angel) जाति के कारण पड़ा है। जर्मनी जिसका अर्थ 'पड़ोसी' है, का सर्वप्रथम प्रयोग केल्टों द्वारा किया गया है, जो अनुमानतः ई० पू० पहली शताब्दी का है। इस शाखा का दूसरा नाम ट्यूटानी भी है। जर्मन बोलियों के दो विभाग किए गए हैं : उच्च जर्मन (High German) और निम्न जर्मन (Low German)। उच्च बोलियाँ दक्षिणी और पार्वत्य-प्रदेश की हैं और निम्न जर्मन उत्तरी भाग की, जिसका समतल अपेक्षाकृत निम्न है। यह विभाग व्यंजनों के एक भेदक विकास के कारण भी किया जाता है कि प्राचीन जर्मन के प्, ट्, क् यदि दो स्वरों के मध्य में या शब्द के अंत में किसी स्वर के पश्चात् हों, तो उच्च जर्मन में उनके स्थान पर क्रमशः फ् (फ्फ्), स् (स्स्) और ह्ह (ख ch) हो जाते हैं। निम्न जर्मन में यह परिवर्त्तन नहीं होता। इसी प्रकार प्राचीन जर्मन के शब्द के आदि में या किसी व्यंजन के बाद प्, ट्, क् के स्थान पर उच्च जर्मन में क्रमशः फ्फ्, त्स् (ज़) और

क्ख़् हो जाते हैं। यह परिवर्त्तन भी निम्न जर्मन में नहीं होता। जर्मनी के अतिरिक्त चेकोस्लोवैकिया, स्विटज़रलैंड, बेल्जियम आदि राष्ट्रों में जर्मन भाषा-भाषी लोगों की संख्या पर्याप्त है। जर्मन लोग अपनी भाषा को डाइटशे, जिसका अर्थ जनभाषा है, कहते हैं।

डच हॉलैंड की भाषा है, जो बेल्जियम की भाषा से बहुत साम्य रखती है। वस्तुतः अंगरेजी, जर्मन, स्कैंडिनेवियन और फ्रिजियन भाषाएँ एक ही सूत्र से विकसित हुई हैं, जिनमें शब्द-समूहों और वाक्य-रचना-प्रणाली की बहुत समानताएँ हैं।

रोमांस :

रोमांस-शाखा के अंतर्गत फराँसिसी, स्पेनिश, पोर्त्तुगीज़, इटालियन, रूमानियन, प्रोवेंशल (Provencal) कैटेलन, सार्डिनियन आदि भाषाएँ हैं। उपर्युक्त सबों का एक सामान्य आदि स्रोत लैटिन होने के कारण इन्हें रोमांस भाषा कहते हैं; क्योंकि लैटिन रोम की भाषा थी और इसीलिए इन भाषाओं को रोमांस भाषा-समूह कहा जाता रहा है।

स्लावी :

स्लावी शाखा की भाषाएँ अन्य भारोपीय भाषाओं की अपेक्षा अधिक मिली-जुली हैं। एक इतालवी और स्पेनिश अथवा एक स्पेनिश और पोर्त्तुगीज़ अपनी-अपनी भाषाओं में बोलते हुए एक दूसरे को कठिनाई के साथ समझ सकते हैं। एक फराँसिसी पर्याप्त अध्ययन के बाद एक रूमानियन से बातचीत कर सकता है; किंतु एक रूसी, एक चेक और युगोस्लाव, एक दूसरे की बात बड़ी सरलता के साथ समझ सकता है।

स्लावी कभी-कभी बाल्टी-शाखा के साथ भी संयुक्त कर दी जाती है जिसमें लिथुएनियन और लेटिश मुख्य भाषाएँ हैं।

केल्टिक :

केल्टिक भाषाओं के दो विभाग किये गए हैं : ग्वेडेलि

(Goidelic) और ब्रिथेनि (Brythonic)। पहली शाखा के अंतर्गत आईरिश, गैयलिक, मैंक्स तथा दूसरी में वेल्स, ब्रिटेन तथा कॉर्नवाल प्रदेश की बोलियाँ ली जाती हैं। एक तीसरी शाखा भी थी जो गोलि (Gaulish) नाम से ज्ञात होकर एशियामाइनर तक बोली जाती थी।

ग्रीक, आर्मेनियन, अल्बेनियन, हिट्टाइट, तोखारी अपने को भारोपीय भाषा-परिवार की अन्य भाषाओं से अलग तो करती हैं; किंतु इनके बोलने वालों की संख्या अधिक नहीं है।

हिंद-ईरानी :

भारोपीय भाषा-परिवार के सबसे पूर्वी भूखंड में जो भाषाएँ हैं, उन्हें ही यह संज्ञा दी गई है। इनमें जो भाषाएँ हैं, वे हैं : फारसी, दर्दी, पुश्तु और उत्तर तथा मध्य भारत में बोली जाने वाली अनेक भाषा-बोलियाँ जो संस्कृत प्राकृत-पालि होते हुए नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के रूप में विकसित हुई हैं।

फारसी ईरान की भाषा है। इसमें हखमानी बादशाहों के कीलाक्षरों पर खुदे लेख प्राप्त हैं। पहलवी इसी भाषा का विकसित रूप है जिसमें पारसी धर्म की मूल पुस्तक अवस्ता की टीका है। शैली की दो भिन्न विशिष्टताओं के कारण इसके दो भाग किए गए हैं : सामी शब्दों के बाहुल्य के कारण एक को हुज़्वारेश कहा जाता है और दूसरे को इसके अभाव के कारण पाज़न्द या पारसी। फारसी में अरबी और फराँसिसी शब्दों के प्रयोग पर्याप्त हैं।

ददी का क्षेत्र पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के मध्य में है, जिसमें खोवार, काफिरी और दर्दी भाषा-समूह उल्लेख्य हैं। खोवार समूह की प्रमुख बोली चित्राली है और दर्दी की कश्मीरी तथा शीना बोली।

पुश्तु अफगानिस्तान तथा भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषा है। इसका साहित्य प्रायः फारसी के अनुकरण पर आधा-

रित है। फारसी से इसका साम्य होते हुए भी इसके बोलने वाले विशेष नहीं हैं।

भारतीय आर्य भाषाएँ :

भारतीय आर्य भाषाएँ हिंद-ईरानी शाखा की ही एक उपशाखा है। वर्त्तमान भारतीय आर्य भाषाओं में लहँदी, सिंधी, मराठी, उड़िया, बिहारी (मैथिली, मगही और भोजपुरी), बंगाली, असमिया, हिंदी, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, भीली, पहाड़ी, जिप्सी और सिंहली हैं, जिन्होंने प्राचीन संस्कृत से पालि-प्राकृत-अपभ्रंश होते हुए अपना आधुनिक नव्य स्वरूप प्राप्त किया। साधारणतः कुछ विशिष्ट समानताओं के आधार पर इन भाषाओं को भिन्न-भिन्न वर्गों के रूप में भी रखने के प्रयास हुए हैं। पश्चिमोत्तर समुदाय में लँहदी और सिंधी हैं, दक्षिणी में मराठी, पूर्वी में बंगाली, बिहारी, उड़िया और असमिया, पश्चिमी में राजस्थानी, गुजराती, पश्चिमी हिंदी (बांगड़ू, हिंदुस्तानी, बुंदेली और ब्रज)। पहाड़ी भाषाओं का अलग समुदाय है। पूर्वी हिंदी (अवधी और छत्तीसगढ़ी) की अवस्थिति पूर्वी और पश्चिमी भाषा-समुदाय के बीच की है। जिप्सी तथा सिंहली भाषाएँ यद्यपि भारतीय आर्य भाषाएँ ही हैं, तथापि सम्प्रति उनका प्रयोग-प्रचार भारत से बाहर है।

सामी-हामी :

भारोपीय भाषा-परिवार की भाँति ही इसकी भी ऐतिहासिक महत्ता है। इसके अंतर्गत उत्तरी अफ्रिका तथा निकट पूरब की भाषाएँ आती हैं। सेमेटिक भाषा में अरबी मुख्य है। मिस्र के पुराने लेख, मध्य कोप्टिक, बर्बर बोलियाँ, जो उत्तरी अफ्रिका की अरबी में भी मिली हुई हैं तथा इथोपिया की कुशिटिक (Kushitic) बोलियाँ, हेमेटिक भाषा-समुदाय में हैं।

यूराल-अलटाइक :

यूरालीय शाखा में फिनिश, एसटोनियन, हंगेरियन, तथा

सेम्वॉयड (Samoyed) भाषाएँ हैं, तथा अल्टाइक-शाखा में तुर्की, मंगोल, टुंगुस और मंचु भाषाएँ मुख्य हैं ।

चीनी-तिब्बती :

चीनी-तिब्बती भाषा-परिवार में दक्षिणी-पूर्वी एशिया की भाषाएँ हैं, जिनमें चीनी, थाई, बर्मी और तिब्बती प्रमुख हैं। बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से भारोपीय भाषा-परिवार के बाद संसार के द्वितीय सर्वप्रमुख भाषा-समुदाय में इसकी गणना की जाती है।

जहाँ जापानी-कोरियाई भाषा-समूहों, काकेशीय भाषा-समूहों, दक्षिण भारत का द्रविड़ भाषा-समूहो, प्रशांत द्विपीय भाषा-समूहों (मलायोपोलिनेशियन) आदि का अलग-अलग वर्गीकरण किया गया है, वहाँ अफ्रिकी निग्रों की भाषाओं, अस्ट्रेलिया के मूल निवासियों की बोलियों आदि का कोई भी वैज्ञानिक स्वरूप-निर्द्धारण तथा पारिवारिक वर्गीकरण नहीं हो सका है।

वस्तुतः जबतक प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक की भाषाओं का क्रमबद्ध तथा अविच्छिन्न सूत्र हमारे समक्ष स्पष्ट नहीं हो जाता, तब तक ऐसे वर्गीकरण की विश्वसनीयता संदिग्ध ही रहेगी। आज भी ऐसे वर्गीकरण संशोधित एवं परि-वर्द्धित करने में हमारे भाषाशास्त्री संलग्न हैं और संभव है, ऐसी प्रक्रिया में, एक दिन उनका एक मूल को प्राप्त करने की आकांक्षा, उनका पुराना स्वप्न, सत्य हो जाय।

बोली

बड़ी निर्दोष सत्यता के साथ यह प्रश्न बराबर पूछा जाता रहा है कि वस्तुतः भाषा क्या है ? बोली क्या है ? और यथार्थतः दोनों में क्या कोई पार्थक्य है ?

और, विभिन्न भाषा-मर्मज्ञों ने इस समस्या को विभिन्न आयामों से देखकर अपने निष्कर्ष भी दिए हैं :

राजनीतिक दृष्टिकोण से भाषा वह है, जिसको राष्ट्रीय संविधान द्वारा राष्ट्र-स्तर पर व्यवहृत करने की स्वीकृति हो और जिस भाषा को यह गौरव प्राप्त नहीं है, वह बोली है। साहित्यिक परिभाषा-भेद से यह कहा जाता है कि भाषा बोली का वह विकसित स्वरूप है, जिसमें साहित्य की रचना की जाती है और बोली वह है जिसमें इसका अभाव हो। और, तीसरे उत्तर के अन्तर्गत वे सामान्य पंडित हैं जो कहते हैं कि भाषा और बोली में वस्तुतः कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। सौभाग्यवश राज्य-संचालक तथा प्रधान राजनीतिक कार्यालय के निकट की बोली को अपेक्षाकृत अधिक प्रधानता मिल जाने के कारण ही भाषा और बोली का भेद उपस्थित हो जाता है। किंतु. इन सारी उक्तियों के दूसरे भी रूप हैं कि राजनीतिक तर्क पर जहाँ संविधान-स्वीकृत बोली को भाषा का प्रतिमान दे दिया जाता है वहाँ मैथिली, भोज-पुरी, अवधी आदि को क्या कहा जाय ? लिथुएनियन और लेटिश ने ज़ार के राजत्व-काल में भाषा का स्तर नहीं पाया; किंतु प्रथम विश्वयुद्ध की परिसमाप्ति के समय जब उसने अपना स्वतंत्र गणराज्य स्थापित कर लिया, तो वे ही बोलियाँ भाषाओं के रूप में स्वीकृत कर ली गईं और बाद में रूसी-संघ द्वारा जब वे अधीनस्थ कर ली गईं, तो क्या वे पुनः बोलियाँ हो गईं ? साहित्यिक परिभाषा को भी मानकर हमारा कार्य आगे नहीं बढ़ पाता। भोजपुरी, मगही आदि भाषा नहीं कहला सकतीं

और सिसिलियन तथा निपोलिटन-जैसी नगण्य बोलियाँ भाषा के स्तर को प्राप्त कर लेंगी। तो क्या तीसरी स्थापना को ही मान्य कर लिया जाय? जॉन बीम्स ने भी कहा था कि इस हिंदी को दिल्ली तथा उसके आस-पास की बोली होने का संयोग-सौभाग्य प्राप्त हुआ, इसीलिए इसे राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी का आधार बनने का गौरव मिला अन्यथा यदि पटने को राष्ट्र की राजधानी बनने का सुयोग मिला होता, तो यह अवसर भोजपुरी (मगही क्यों नहीं?) को मिला होता?[१]

वस्तुतः इस प्रश्न का कोई भी सरल, स्पष्ट समाधान नहीं दिया जा सकता। एक भाषा-बोली के बोलने वाले किसी भी दो व्यक्तियों की बोलियों में हम आंशिक समता ही पा सकते हैं, अन्यथा कमरे के अंदर रहकर भी बाहर पुकारने वाले की बोली की भिन्नता पहचान कर हम यह नहीं अनुभव कर पाते कि जिज्ञासु पूर्वपरिचित गंगाधर ही है। और, इसी कठिनाई के सरलीकरण के लिए भाषावैज्ञानिकों को स्वीकार कर लेना पड़ा कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी बोली (idiolect) है, जिसका आदर्श अथवा प्रतिमान उपस्थित नहीं किया जा सकता।

भाषा विभिन्न बोलियों के संगठित स्वरूप से ही अपना विकास पाती है। वस्तुतः यह किसी भी जीवित भाषा की प्रकृति है कि वह केवल अपने एक ही स्तर को लेकर सप्राण गतिशील नहीं बनी रह सकती; स्तरों की अनेकता ही उसकी प्राणवत्ता है और इसीलिए हम प्रायः कहते भी हैं कि यह बिहार की हिंदी है,

---

१. It is the Hindi dialect of Delhi and the parts adjecent, Polished and mellowed, and Supplemented by a large stock of Arabic and Persian words. Had the Musalmans fixed their head-quarters at Patna, for instance, Hindustani would have had the Bhojpuri dialect as its basis. —John Beames : Outline of Indian Philology and other Philological Papers. P. 36.

यह उत्तर प्रदेश की हिंदी है और फिर भी हम एक-दूसरे की बात समझ लेते है। किंतु, इस आधार को लेकर यदि हम यह कहें कि दो भिन्न बोलियों के व्यक्तियों की पारस्परिक समझ (Mutual intelligibility) ही एक भाषा के दो भिन्न स्तरों (बोलियों) का बोध देती है, तो भी हमारी समस्या संदिग्ध ही रह जाती है। मनुष्य-ज्ञान की कोटियाँ सीमित नहीं की जा सकती हैं। एक थोड़ा पढ़ा-लिखा मैथिली-भाषी सुगमतापूर्वक बंगला समझ जा सकता है, और एक निरक्षर ठेठ बंगाली मैथिली-भाषी व्यक्ति की बातों को नहीं समझ पाता।

वस्तुतः किसी भी बोली को भाषा-रूप में प्रतिष्ठित करने में जो कारण विद्यमान हैं, वे हैं : शिक्षा, अखिल राष्ट्रीय सेवा, सामान्य धार्मिक पृष्ठभूमि, राजनीति, राष्ट्रीय चेतना और यातायात की सुविधा तथा जहाँ इन किन्हीं भी कारणों में से एक का अभाव होता है, भाषा अपने स्तर से अलग होने लगती है और परिणामस्वरूप एक दूसरी बोली का जन्म होने लगता है; क्योंकि भाषा की प्रकृति बिखराहटपूर्ण है, वह कभी आयासबद्ध हो केन्द्रोन्मुखी नहीं हो सकती।

इतिहास-संदर्भ में इस तथ्य को हम इस प्रकार देख सकते हैं कि ऐक्य-विधायक राजनीतिक-संस्थान के अभाव में, राष्ट्रीय-बोध-हीनता और आवागमन की अत्यंत असुगमता-असुरक्षितता में प्राचीन संस्कृत की प्रतिमिति ने मध्ययुग में तत्कालीन प्रचलित अनेक प्राकृतों-अपभ्रंशों के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति की। भारोपीय परिवार की युरोपीय शाखा ने भी ऐसी ही स्थिति में केल्टिक, इटालवी, जर्मनिक, स्लावी, ग्रीक आदि विभक्तियाँ प्रकट कीं। लेकिन जब कभी ऐतिहासिक कारणों ने केन्द्राभिमुखी गति अपनायी है, एक मान्य भाषा ने दूसरी अन्य अनेक भाषाओं को आत्मसात् करने की चेष्टा की है। हिंदी को राजभाषा के रूप में मान्यता मिल जाने के बाद, हिंदी-साम्राज्यवाद का उद्घोष

करना एक राजनीतिक प्रपंच ही है। तत्त्वतः यदि विचार करें, तो ज्ञात होगा कि ऐसी स्थिति प्रायः सब दिन रही है। रोमन-साम्राज्य के साथ, एंग्लो-सैक्सनों के साथ, मुग़ल-साम्राज्य के साथ, आज के गणतंत्र-जनतंत्र के साथ, प्रायः सभी के साथ यही बात रही है कि क्रेन्द्र की शक्ति-सम्पन्नता के लिए उन्होंने एक सामान्य भाषा का आश्रय ग्रहण किया है, और ऐसा करने में उन्हें दूसरी बोलियों की उपेक्षा करनी पड़ी है। किंतु मनुष्य द्वारा अखिल राष्ट्र को एक भाषा-सूत्र में बद्ध करने का प्रयास—यातायात, रेडियो, फिल्मों, हवाई मार्गों, व्यवसाय आदि के द्वारा भी—सफल नहीं हो सका है। यही कारण है कि केलिफोर्निया की बोली एक न्यूयार्क-निवासी के लिए, एक हैम्पशायर के निवासी की बोली एक लंदन-निवासी के लिए तथा एक मेरठ-निवासी की बोली एक पूर्णिया-निवासी के लिए उतनी ही अगम्य है, जितनी एक अमेरिकी के लिए हिंदी और हिंदी-भाषी के लिए अमेरिकी अंगरेजी।

बोली की ग्राम्यता तथा उसकी विकृति (slang) से यह दोष नहीं दे सकते कि बोली भाषा की निचली सतह है, वह अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री नहीं दे सकती, वह असभ्य है। किंतु तथ्य ठीक इसके विपरीत है। पुनर्वास आदि कारणों से जब कभी किसी मूल-भाषा के बोलने वालों में पार्थक्य आया है, उन्होंने उस समय की बोली को अपरिवर्त्तित रखने का बराबर प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न में अपवाद-स्वरूप कभी-कभी ऐसा हुआ है कि दूसरे प्रभाव की तीव्रता के कारण मूल-भाषा नष्टप्राय भी हो गई है। पेन्सिलवानिया की डच भाषा के स्थान पर आज भले जर्मनी की सत्रहवीं शताब्दीय रीनो-फ्रेकोनियन (Rheno-Fraconian) बोली हो; किंतु अधिकांशतः यही कहा जा सकता है कि अमेरिकी अंगरेजों ने सत्रहवीं शताब्दी की ही शेक्सपीयरिन अंगरेजी जीवित रखी है न कि आज के लंदन की किंग्स इंगलिश। इसी

प्रकार कनाडा की फराँसिसी, आज के फ्लॉरेन्स की बोली नहीं है; वरन् उसी शताब्दी की है, जब वे उनसे विलग हुए थे। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि भाषा-बोली का यह भेद उच्चारण, आविष्कार, शिक्षा, संस्कार आदि के कारण होता रहता है। किंतु, तात्त्विक दृष्टि से दोनों में कोई मौलिक भेद दिखा सकना बड़ा कठिन है। यह तो दो-तीन साथ-साथ आती हुई बोलियों में किसी एक को विशिष्ट घटनाओं के कारण संस्कार करने, साहित्य लिखने तथा बहुत बड़े क्षेत्र की अभिव्यक्ति-शैलियों को प्राप्त करने का अवसर मिल जाता है और भाषा बन जाती है। किंतु, जो बोलियाँ ऐसा नहीं कर सकीं, वे नगण्य हैं? बहुत दिनों तक लोगों की अवश्य ऐसी धारणा थी, परंतु आज उन्होंने उनके मूल्य को आवश्यक रूप से आँका भी है और जहाँ कहीं उन्हें नवीन भाषा-बोली का पता चलता है, अध्ययन के उपक्रम में वे संलग्न भी हुए हैं। वस्तुतः भारत की भाषा-समस्या का तबतक संपूर्ण रूप स्पष्ट नहीं हो सकता, जबतक यहाँ की सभी मुख्य बोलियों पर वैज्ञानिक पद्धति से कार्य संपन्न नहीं कर लिए जाते। जॉन बीम्स ने भी बहुत पूर्व इसकी आवश्यकता समझी थी और कहा था कि भारत की इन लुप्त होती हुई बोलियों के लिए यह बड़ा ही उपयुक्त अवसर है, अन्यथा आज की ये जीवित बोलियाँ कल मर जायेंगी।[१] इनके अध्ययन का द्वार खुलना चाहिए।

---

१. Those, therefore, who do not live in places where hitherto explored languages are spoken, may yet do good services to the cause of Indian philology by noting and investigating the local dialects of thier district. These dialects are fast disappearing, and in few years perhaps they will be extinct; it is important, therefore, to record them ere they pass away, and so secure all the aid that may be derived from them while they are yet in existence.
—John Beames, Philo., p. 36.

लिपि

भाषा मनुष्य के स्वरयंत्र द्वारा उत्पादित वह सार्थक स्वेच्छा-पूर्वक मान्य ध्वनि-प्रतीक है जिसके माध्यम से एक समाज अपना कार्य-व्यापार संपादित करता है और लिपि इन्हीं प्रतीकों की लिखित प्रतीकात्मक रेखा है, जिसके संयोग से वह अपने भावों-विचारों का विजड़ीकरण करता आया है। लिपि ही भाषा का वह पूरक अंग है जिसके द्वारा भाषा अपने आदर्श-स्वरूप के स्थायित्व को प्राप्त करती है। लिपि के अभाव में भाषा का परिवर्त्तन इतना तीव्र हो जाता है कि पुनः उसके आधार-स्रोत का पता लगा सकना कठिन हो जाता है।

भाषोत्पत्ति की भाँति ही लिपि की उत्पत्ति के संबंध में भी पहले धार्मिक तथा ईश्वरीय कृपा की ही बातें कही जाती हैं। संस्कृत की देवनागरी देवताओं के नगर से संबंधित मानी गई है। मिस्र की लिपि नद्व-नत्र (ndw-ntr) अर्थतः देवताओं की बोली, थॉथ (बुद्धि के देवता) की देन है। असीरियन कीलाक्षर-लिपि, जिसका प्रयोग असीरिया, सुमेरिया, वेबिलोनिया, परसिया तथा मेसोपोटामिया के निवासियों द्वारा ई० पू० ४००० से ईसा के समय तक होता रहा है, देवता नेबो (God Nebo) द्वारा मनुष्य को दी गई थी। और, जापान की सबसे प्राचीन और आज लुप्त लिपि भी 'कामी नो मोजी' (दैवी अक्षर) ही थी।

लिपि की ये प्राचीन पद्धतियाँ वस्तुतः चित्रलिपियाँ हैं। मिस्र में "दौड़ते हुए बछड़े के पास ही पानी का भी चित्र, प्यास के भाव का उद्‌बोध कराता था। मनुष्य के चित्र में निकली हुई पसलियों से दुर्भिक्ष का और आँसू ढालती हुई आँखों से दुःख का आभास मिलता था। चीन में दो मिले हुए हाथों से मित्रता

चित्रों द्वारा ये अर्थ-अभिव्यक्तियाँ :
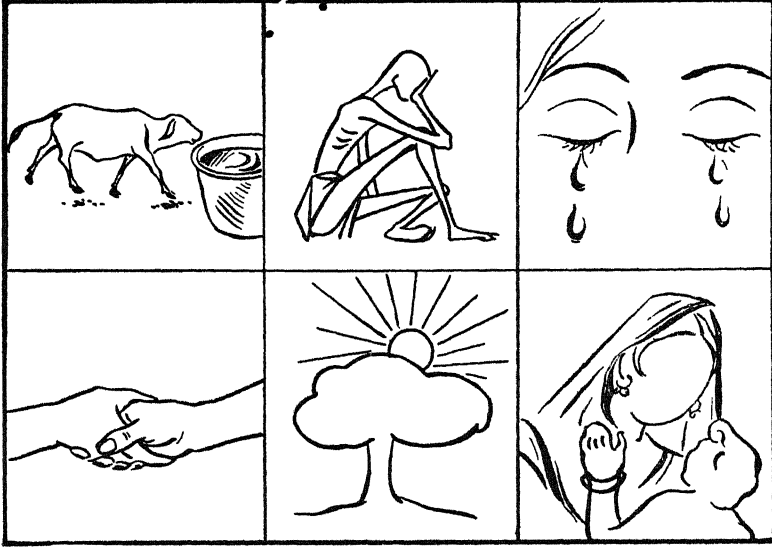
(पृष्ठ २२–२३)

का अर्थ समझा जाता था। इसी प्रकार सूर्य, वृक्ष, साँप, भेड़ आदि के चित्रों से उन-उन चीजों और जीवों का बोध होता था।''[1] चीन में सूर्य और वृक्ष के चित्रों से पूरब दिशा का, सूर्य और चंद्रमा से प्रकाश, नेत्र और जल से आँसू, तथा बच्चे और स्त्री से शुभ का तात्पर्य ग्रहण किया जाने लगा। ऐसी लिपियों की चाहे जो दुर्बलता हो, इतना अवश्य है कि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में लिपि-विविधता के कारण जो कठिनाई होती है, वैसी अगम्यता इनमें नहीं है। एक मनुष्य के चित्र से जो भाव मिस्री समझ सकता है, चित्र को देखने के पश्चात् प्रायः वही एक भारतीय भी समझेगा। किंतु जब ऐसे चित्रों से अभीप्सित विचारों के प्रेषण में अधिक सहायता नहीं मिलने लगी, तो पुनः विकास प्रारंभ हुआ। चित्र मात्र संकेत-रूढ़ि के रूप में प्रयुक्त होने लगे और तत्पश्चात् ये सुमेरियन, असीरो-बेविलोनियन और मिस्री संकेत-चित्रों से क्रमशः विलग होते हुए ध्वन्यात्मक मानों के समीप आते गए। और, बाद में यह अंतिम रूप से फोनेशियन तथा हिब्रू लोगों पर ही आधृत रहा, जिन्होंने ध्वन्यात्मक स्तर पर एकाक्षर-संकेतों के माध्यम से वैचारिक अभिव्यक्ति का द्वार उन्मुक्त किया। इस प्रकार संपूर्ण कथ्य को एक चित्र, पुनः चित्र-विकास से उनके अनुमित संकेत और फिर इन संकेतों से अक्षरों का विकास ही लिपि का क्रमबद्ध विकासशील इतिहास है।

ग्रीस में एक कथा है कि ई० पू० १५०० में थेबिस के कैडमस (cadmus) ने सर्वप्रथम फोनिशियन वर्णमाला को लाया था और यही वर्णमाला बाद में एट्रूस्कनों के माध्यम से रोमन वर्णमाला के रूप में विकसित हुई। यह ग्रीक अल्फावेट सिमेटिक (फोनेशियन) Aleph और Beth के प्रारंभिक दो अक्षरों पर आधारित है। Aleph का अर्थ बैल का मुँह है, और इस चित्र को दिखाने वाले संकेत से ही बाद में A का

१. सामान्य भाषा-विज्ञान : डॉ० बाबूराम सक्सेना, पृ० २०० ।

विकास हुआ है। Beth का सिमेटिक अर्थ घर है और B मूलतः एक घर का चित्र था। और इसी प्रकार ग्रीक वर्णमाला के सभी अक्षरों का एक चित्र-आधार है, जिसपर बाद में उनका विकास हुआ। सम्प्रति पश्चिमीय ग्रीक, रोमन, रूमी (cyrillic) और गॉथिक लिपियाँ ही फोनेशियन सिमेटिक वर्णमाला से उद्भूत नहीं हुईं, वरन् दक्षिणी और पूर्वी भागों में उसने अरबी तथा हिब्रू वर्णमालाओं को भी जन्म दिया है। अरबी और हिब्रू दाहिनी से बाँयीं ओर को लिखी जाती हैं जबकि अन्य लिपियाँ बाँयीं से दाहिनी ओर लिखी जाती हैं। वस्तुतः ऐसी लिपियों के विकास की भी एक कथा है। प्राचीनतम ग्रीक की, होमर के समय में, लिपि की एक पद्धति थी: boustrophedon, अर्थात् बैल जैसे खेत जोतता है। सुविधा की दृष्टि से बैल खेत में बाँये से दाहिने जाता है, पुनः दाहिने से बाँये और बाँये से दाहिने। वस्तुतः उस समय लिखने का भी यही क्रम था। और, इसी क्रम से विद्वानों का अनुमान है कि अरबी और हिब्रू तथा उनसे उत्पन्न लिपियों को लिखने का क्रम रहा है। दाहिने से बाँयें लिखने का ही क्रम जीता रहा, दूसरा विनष्ट हो गया।

और इसी फोनेशियन सिमेटिक वर्णमाला से, कुछ विद्वान् मानते हैं, नागरी तथा भारत की अन्य लिपियाँ, बर्मा और थाईलैंड की लिपियाँ विकसित हुई हैं। किंतु, नागरी की उत्पत्ति की इस धारणा को लेकर उनमें पर्याप्त मतभेद भी है।

नागरी की उत्पत्ति ब्राह्मी की उत्तर-शैली से हुई है और ब्राह्मी को किसी प्रकार से फोनेशियन लिपि से संबंधित नहीं करना चाहिए। इस विषय में जो विवाद हैं, सारतः वे ये हैं: विल्सन, प्रिंसेप, मूलर, सेनार्ट ने ब्रह्मी की उत्पत्ति ग्रीक लिपि या फोनेशियन लिपि से मानी है। सेनार्ट का तर्क है कि सिकन्दर के आक्रमण के काल में भारतीयों ने ग्रीकों से लिखना सीखा है। कस्ट ने कहा है कि एशिया के पश्चिम में रहने वाले फोनेशियन

व्यापारियों का भारत से व्यापारिक संबंध था और उन्हीं से ही भारतीयों ने लिपि-ज्ञान प्राप्त किया होगा। डीके का अनुमान है कि ब्राह्मी लिपि का उद्गम असीरियन कीलाक्षरों से किसी दक्षिणी सिमेटिक लिपि के द्वारा हुआ है। विलियम जोन्स, बेबर, बूलर आदि पंडितों के अनुसार ब्राह्मी की उत्पत्ति सिमेटिक के किसी-न-किसी रूप से हुई है। उत्तरी सिमेटिक लिपि के अरमीनियन रूप का संबंध अरबी से हुआ और उसी ओर से यह भारत भी पहुँची होगी, आनुमानिक रूप से ऐसा कहा जा सकता है। बूलर ने दृढ़ता के साथ यह कह कर कि ब्राह्मी की उत्पत्ति सिमेटिक की उत्तरी शैली से हुई है, विदेशी उद्गम-सूत्र माननेवाले विद्वानों को पर्याप्त आधार-सामग्री भी देने की चेष्टा की है। किंतु, भारतीय भाषा-पंडितों ने उनके तर्कों को कभी महत्त्व की दृष्टि से नहीं देखा। बूलर की इस यादृच्छिक प्रामाणिकता का कि "भारतीयों ने (सिमेटिक के) कितने ही वर्णों को उलट दिया जिससे ऊपर का हिस्सा नीचे हो गया, कितनों में कोने निकाल दिए हैं और रुख बदलने से बहुतों की आकृति बदल गई है," पुष्ट विरोध किया गया है। वस्तुतः ई० पू० ५ वीं शताब्दी के पूर्व भी भारतीयों को अक्षर-ज्ञान था, इसके ऐतिहासिक प्रमाण भी हमारे पास हैं। अशोक के शिलालेखों के पूर्व के दो छोटे-छोटे लेखों, जो अजमेर के बड़ली तथा नेपाल तराई के पिप्रावा स्थान में मिले हैं, की विवेचना करते हुए ओझाजी ने कहा है कि "इन शिलालेखों से प्रकट है कि ई० सन् पूर्व की पाँचवीं शताब्दी में लिखने का प्रचार इस देश में कोई नई बात नहीं थी।"[1]

ई० पू० ५०० से ३५० ई० तक के लेखों को सामान्यतः ब्राह्मी नाम दिया जाता है। कालक्रमानुसार बाद में ब्राह्मी की दो शैलियाँ प्रमुख हो गईं : एक विन्ध्य पर्वत के उत्तर विकसित होकर विभिन्न लिपियों की जननी बनी और दूसरी विन्ध्य के

१. गौरीशंकर हीराचंद ओझा : प्राचीन लिपिमाला, पृ० ३

दक्षिण फैलकर दक्षिण की शैली। उत्तरी शैली से जिन लिपियों का विकास हुआ, उनमें हैं : गुप्त लिपि, जिसका प्रयोगकाल गुप्तवंशी राजाओं की चौथी-पाँचवीं शताब्दी है। कुटिल-लिपि गुप्त लिपि से ही विकसित हुई और इसका समय छठी से नवीं शताब्दी तक रहा। अक्षरों की कुटिल आकृति के कारण ही इसे यह संज्ञा दी गई। उत्तर भारत में यद्यपि नागरी का प्रचार नवीं शताब्दी से मिलता है तथापि दक्षिण में इसका (नंदिनागरी) प्रयोग ८ वीं शताब्दी से ही प्रारंभ हो गया था। संस्कृत, मराठी, हिंदी, मैथिली और नेपाली के लिए नागरी का प्रयोग आज बड़े आदर के साथ किया जाता है। भारत की संवैधानिक राष्ट्रलिपि की स्वीकृति के परिणामस्वरूप तो अन्य भारतीय लिपियों के साहित्य को भी देवनागरी के माध्यम से लिखे जाने की एक व्यापक चेष्टा प्रारंभ हो गई है।

नागरी के इतिहास से ज्ञात होता है कि यह लिपि बराबर विकासशील रही है। १०वीं शताब्दी की "लिपि में अ, आ, घ, प, म, व, ष, स के सिर दो हिस्सों में विभक्त मिलते हैं, पर ११वीं सदी से ये दोनो अंश मिलकर सिर की एक लकीर बन जाते हैं और प्रत्येक अक्षर का सिर उतना लंबा रहता है जितनी कि अक्षर की चौड़ाई होती है।"

नागरी एक ध्वन्यात्मक लिपि है और उसके वर्णों का संयोजन ध्वनियों के अनुक्रम से ही किया जाता है, किंतु; 'ि' और 'ॆ' की मात्राएँ अपवाद हैं। उ, ऊ और ऋ की मात्राएँ वर्णों के नीचे (कु, कू, कृ) तथा ए, ऐ, ओ, औ की मात्राएँ (े, ै, ो, ौ) वर्णों के ऊपर तथा ठीक दाहिनी ओर खड़ी कर लिखी जाती हैं। संयुक्ताक्षर के लिए जिन वर्णों में खड़ी पाई है (ख, म, भ आदि) उनकी खड़ी पाई हटाकर तथा जिनमें नही है (ङ, ट, ठ, ड आदि) उनमें हलन्त लगा कर अथवा संयुक्त वर्णों में ऊपर-नीचे लिखे जाने की पद्धतियाँ हैं। वर्णों के एक-एक रूप के लिए

कई विकल्पात्मक प्रतीक भी हैं। अ, आ के लिए अ, आ। र के लिए र्, ˚, ,, ^। ख से रव का भ से म का संदेह हो जाता है। नागरी के स्वरूप की इस अस्थिरता ने विद्वानों का यथेष्ट ध्यान आकर्षित भी किया है। इधर कुछ दिनों से लिपि में समरूपत्व और प्रतिमिति लाने की चेष्टा भी की जा रही है; किंतु नागरी में आज इतनी विविधता वर्त्तमान है कि इसके एक ही रूप की प्रतिमिति को स्वीकार कर लेना भूल होगी। यह लिपि पुनः आज संस्कार-संशोधन ढूँढ़ रही है। बंगला, कैथी, महाजनी, राजस्थानी और गुजराती लिपियाँ नागरी से ही उद्‌भूत हुई हैं। शारदा लिपि का प्रयोग भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में ८वीं शताब्दी में कुटिल-लिपि के अवसान के पश्चात् प्रारंभ हुआ। कश्मीरी और टाकरी लिपियाँ इसी से प्रसूत हुई हैं।

उत्तरी शैली के अतिरिक्त ब्राह्मी की दक्षिणी शैली ने जिन लिपियों को जन्म दिया उनमें तामिल लिपि, कन्नड़-तेलुगू लिपि, कलिंग लिपि, ग्रंथ लिपि, मध्यदेशी लिपि और मराठी लिपियाँ मुख्य हैं।

भारतवर्ष की एक और पुरानी और लुप्त लिपि खरोष्ठी है। अशोक के राजत्व-काल के पूर्व इसके अस्तित्व का कोई प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं है। उसके शहबाजगढ़ी तथा मनसेहरा के शिलालेखों से ही इसका अस्तित्व ज्ञात होता है। अशोकपूर्व ईरानी सिक्कों पर एक-एक अक्षर तथा बाद में विदेशी राजाओं के सिक्के तथा शिला लेखों में इस लिपि का उपयोग किया गया है; किंतु ब्राह्मी की दृष्टि से इसके प्रयोग बहुत कम ही अंशों में हमारे पास सुरक्षित हैं। यह दाहिनी से बाँई ओर को लिखी जाती थी। इसके उद्‌भव-आगमन को लेकर भी विद्वानों में मतांतर है। जहाँ कुछ ने यह अनुमित किया है कि "ईरानियों के राजत्व-काल में उनके हिन्दुस्तान के इलाकों में उनकी राजकीय लिपि अरमइक का प्रवेश हुआ हो और उसीसे खरोष्ठी लिपि

का उद्भव हुआ हो ", वहाँ कुछ यह मानते हैं कि इसका आविर्भाव तक्षशिला में हुआ था और खरोष्ठ नामी आचार्य ने इसका सस्कार किया था। किंतु, ईसा की तीसरी शताब्दी के पश्चात् इस लिपि का प्रयोग ही नष्टप्राय हो गया। इसके बाद मुख्यतः ब्राह्मी तथा उससे उत्पन्न लिपियों का ही हमारे यहाँ प्रयोग किया जाता रहा है।

वर्त्तमान समय में उर्दू और 'रोमन लिपियों का भी हमने ऐतिहासिक कारणों से आश्रय ग्रहण किया है और ये प्रयोग हमारे यहाँ जीवित भी हैं।

उर्दू लिपि अरबी और फारसी के माध्यम से आती हुई कुछ भारतीय ध्वनियों के लिए संशोधित संकेतों को लेकर बनी है। मूल अरबी की प्रकृति होने के कारण ही यह भी दाहिने से बाँये को लिखी जाती है। किंतु, उर्दू लिपि का स्थिरीकरण अथवा आदर्शीकरण नहीं हो सका है। एक ध्वनि के लिए कभी-कभी तीन-चार वर्णों की योजना (यथा स के लिए से, स्वाद, सीन; ज़ के लिए ज़ाल, ज़े, ज़्वाद और ज़ोय) किसी भी भाषा के अध्ययनार्थी के लिए सुगमतापूर्वक बोधग्राह्य नहीं हो सकती, अस्पष्टता बनी ही रहती है। फिर भी, इस लिपि का प्रयोग सिंध, पश्चिमोत्तर प्रदेश, पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा बिहार के मुसलमानों द्वारा किया जाता रहा है। उर्दू को हिंदी के समीप लाने की चेष्टाएँ की जा रही हैं, जिनके परिणामस्वरूप भी, उर्दू आज क्रमशः क्षीण होती जा रही है।

भारत में अंगरेजी का अस्तित्व निर्मूल नहीं हो सका है, इसलिए रोमन लिपि का हमारे लिए आलोचनात्मक उल्लेख करना आवश्यक ही है। वर्त्तमान ध्वन्यात्मक वर्णमालाओं में रोमन वर्णमाला अपनी सरलता के कारण बहुक्षेत्र-व्यापी है। व्यापकता के कारणभूत तत्त्वों में लिपि की सरलता तो है ही,

साथ-ही-साथ राजनीतिक उद्योग भी है। १९२८ ई० में मुस्तफा कमाल पाशा के नेतृत्व में अरबी के स्थान पर रोमन लिपि को टर्की में प्रतिष्ठित किया गया। जापानियों ने रोमन लिपि के प्रचारार्थ १८८५ ई० से ही परिषद् की स्थापना कर ली थी। सोवियत-संघ की स्थापना के पूर्व रूसी सिरीलिक लिपि (cyrillic script) को भी रोमन के अनुसार संशोधित करने की चेष्टा की गई थी; किंतु सिरीलिक भी ध्वनि लेखन की समर्थता में रोमन से न्यून नहीं है, जिसके लिए बाद में उसमें रोमन के अनुसार अधिक परिवर्त्तन की आवश्यकता अनुभूत नहीं की गई। भारत में आदिवासी क्षेत्रों में ईसाई मिशनरियों द्वारा तो इसका प्रचार किया जाता ही रहा है, डॉ० चटर्जी-जैसे भाषा-मर्मज्ञों ने भी एक समय में भारत में लिपि-एकता के लिए इंडो-रोमन वर्णमाला का सिद्धान्त उपस्थित किया था। किंतु, इसके साथ ही रोमन की कुछ दुर्बलताएँ भी हैं। यह दुर्बलता हिज्जे और उच्चारण की असमानता के कारण ही है। हम लिखते हैं; Knight तथा उसका उच्चारण करते हैं [Nait]। इस प्रकार के कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। किंतु, ऐसी दुर्बलताएँ ऐतिहासिक हैं। प्राचीन काल में, जैसा हम लिखते हैं, वैसा ही उच्चारण करते थे; किंतु आज जैसा हम लिखते हैं, वैसा उच्चारण नहीं करते। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार हम लिखते ऋषि हैं और उच्चारण रिशि करते हैं। वस्तुतः लिपि की यह मुख्य त्रुटि नहीं है; क्योंकि संसार की किसी भी लिपि में प्रत्येक ध्वनि के लिए अलग-अलग ध्वनि-प्रतीक नहीं हैं। यद्यपि कुछ अंशों तक यह कहा जा सकता है कि फिनिश लिपि ही एक ऐसी लिपि है जिसमें भाषा की प्रत्येक ध्वनि के लिए यथासाध्य अलग वर्ण हैं, फिर भी नागरी की भाँति ही रोमन के लिए भी, आज परिमार्जन तथा संस्कार की स्थिति आ गई है। किंतु, इसके बाद भी तो उसकी समस्या समाप्त नहीं हो पाती। प्रत्येक ध्वनि के लिए

पृथक् प्रतीकों का आविष्कार बड़ा कष्टसाध्य कार्य है। बहुत-सी ध्वनियों का हमें अभी परिचय भी नहीं है।

आज हमारी ध्वनियाँ आगे-आगे भाग रही हैं और लिपि उनको संपूर्ण रूप से अपने में बाँधने के लिए आकुल होकर अनुसरण कर रही है। अबतक की परिचित ध्वनियो के आधार पर भाषा के ध्वन्यात्मक स्वरूप को लिपि-बद्ध करने के लिए 'अंतर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक वर्णमाला' (The International phonetic Alphabet) की भी योजना उपस्थित की गई है; किंतु ऐसी योजना से क्या ध्वनि और लिपि की समस्या समाप्त हो गई है? निराशापूर्ण शब्दो के अतिरिक्त हमारे पास और कुछ कहने को नही है कि इस वर्णमाला ने भी मनुष्य की भाषाओं की समस्त ध्वनियो को प्रकट करने की आंशिक सफलता ही प्राप्त की है। पता नही, लिपि अपने विकास की किस अवस्था में इन ध्वनियों को समस्त रूप से बाँध सकने मे समर्थ हो सकेगी!

दूसरा अध्याय

भाषा का स्थापत्य

भाषा का स्थापत्य

ध्वनि

भाषाविज्ञान भाषा के स्थापत्य का विश्लेषण है और भाषा का यह स्थापत्य मुख्यतः उसके तीन तत्त्वों—ध्वनि, विचार तथा शब्द से संश्लिष्ट है। भाषा की व्याख्या करते हुए ऊपर हमने कहा है कि वह मनुष्य के स्वर-यंत्र द्वारा उत्पादित स्वेच्छापूर्वक मान्य वह ध्वनि-प्रतीक है जिसके माध्यम से एक समाज अपने कार्य-विचारों का आदान-प्रदान करता है। परिणामस्वरूप इस परिभाषा से जो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं, वे यही हैं कि वह ध्वन्यात्मक होनी चाहिए। किंतु, ध्वनि ही भाषा की एकमात्र प्रकृति नहीं है। स्वर-यंत्र के अवयवों द्वारा ही तो पशु-पक्षी तथा अन्य प्राणी भी ध्वनि उत्पन्न करते हैं। वस्तुतः जब तक ध्वनि के साथ विचार-तत्त्व का संश्लेषण नहीं हो जाता, तबतक भाषा अपनी तात्त्विक पूर्णता को नहीं प्राप्त कर सकती। इसीलिए भाषा को अति-अवयवीय (superorganic) ध्वनि भी कहा गया है।

ध्वनि-उत्पादक अवयवों के उल्लेख से सामान्यतः हम स्वर-यंत्रीय स्थान से ओठ तक के उच्चारण-क्षेत्रीय स्थानों तक का ही अर्थ ग्रहण करते हैं; किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि ध्वनि-उच्चारण की प्रक्रिया में हमारा संपूर्ण शरीर क्रियाशील हो जाता है। मुखाकृति की मांसल चंचलता और हस्तादि संचालन, मुख्यतः इसी प्रक्रिया के अनुभाव हैं। साँसों की क्रिया भी, साधारण अवस्था से, अपेक्षाकृत अधिक गतिशील हो जाती है और इन्हीं

साँसों के मुख तथा नासिका-विवर के माध्यम से बहिर्गमन तथा अंतर्गमन से विभिन्न ध्वनियों की उत्पत्ति हुई है।

सामान्यतः हम बाहर निकलती हुई श्वास-वायु के संयोग से ही बनी ध्वनियों का व्यवहार करते हैं; किंतु कभी-कभी हम बाहर की वायु को अंदर लेकर भी कुछ ध्वनियाँ उत्पन्न करते हैं—यथा : ट् ट् , ट् ट्। अपनी भाषा में ऐसी क्लिक ध्वनियाँ अधिक महत्त्व नहीं रखती हैं; किन्तु ज़ुलू तथा अन्य अफ्रीकी भाषाओं में ये क्लिक ध्वनियाँ उनकी दैनिक भाषा की नियमित व्यवस्था के अन्तर्गत आती हैं।

फेफड़ों के दबाव से जब हमारी श्वास-वायु श्वास-नालिका से होकर बाहर निकलने लगती है तब हम उसे स्वर-यंत्रीय स्थान से लेकर ओठ तक किन्हीं भी उच्चारण-क्षेत्रीय स्थानों पर अवरुद्ध कर अथवा उसमें विकार उत्पन्न कर विभिन्न ध्वनि अभिव्यक्त करते हैं। इस क्षेत्र में चार ऐसे अवयव हैं जिनमें संकुचनशीलता अथवा गति है। वे हैं : स्वर-यंत्र, कोमल तालु या अलिजिह्व, जीभ और ओठ। स्वर-यंत्र स्वर-तंत्रियों (वीणा के तारों के सदृश) का संगठन है जिसकी तंत्रियाँ बड़ी ही लचीली और फलतः कम्पन उत्पन्न करने में समर्थ हैं। इन स्वर-तंत्रियों की चार विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं : (क) श्वास-वायु स्वर-तंत्रियों के अवकाश से बाधाविहीन होकर निकलती रहती है। जैसे, शांतिपूर्वक साँस लेने अथवा अघोष ध्वनि उच्चरित करने के क्रम में। इस अवस्था में तंत्रियाँ गतिहीन रहती हैं। (ख) दूसरी अवस्था में दो तंत्री-समूहों द्वारा अवरोध उपस्थित हो जाने पर श्वास-वायु के घर्षण से उनमें कम्पन और इसी कम्पन से ध्वनि में घोष तथा सुर की सृष्टि हो जाती है। (ग) तीसरी दशा में दोनों समूह इस प्रकार सम्पृक्त हो जाते हैं कि वायु-निस्सरण के लिए बहुत कम स्थान रह पाता है और (घ) चौथी स्थिति में इन तंत्रियों की सम्पृक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि थोड़ी देर के
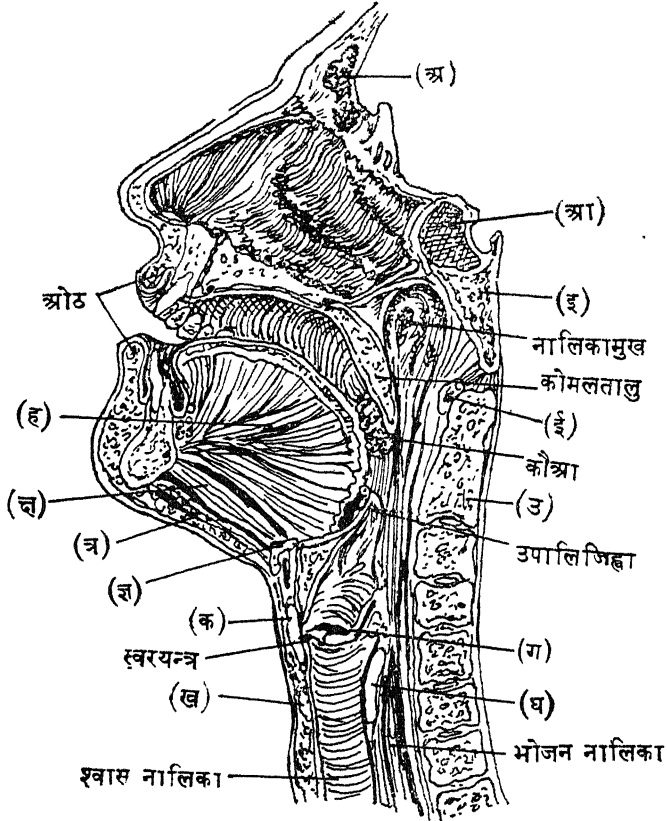
इसमें (क), (ख), (ग), (घ) स्वरयंत्र-पिटक को सहारा देने की चार कोमल अस्थियाँ हैं। (च), (त्र), (ज्ञ) ठुड्डी और जिह्वा के पास की हड्डियाँ हैं। (ह) जीभ के नीचे और ठुडडी के ऊपर का विवर है। (अ), (आ) नाड़ियों के स्थान हैं। (इ) खोपड़ी के निचले भाग की हड्डी है। (ई) खोपड़ी को सहारा देनेवाली, गर्दन की रीढ़ का सबसे ऊपर का भाग है। (उ) गर्दन का केन्द्र-भाग है। स्वरयंत्र-पिटक से लेकर ऊपर नासिका-विवर के पास तक के श्वासनालिका के भाग को उपरिनालिका कहते हैं। इसी नालिका के आगे निकले हुए भाग, कमरे से, मुख-विवर और नासिका-विवर हैं।

लिए वायु पूर्णरूपेण अवरुद्ध हो जाती है और पुनः एकबारगी शक्तिपूर्वक उस वायु का विस्फोट हो जाता है। ऐसी ध्वनि को स्वरयंत्रीय विस्फोट ध्वनि (Glottal sound) कहते हैं, जैसे, जर्मन [ʔaxtuγ] = 'बाहर देखो'।

स्वर-तंत्रियों की इन चार अवस्थाओं में प्रथम दो अवस्थाएँ अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व की हैं, क्योंकि इन्हीं दो अवस्थाओं से ध्वनियों का अघोष तथा सघोष वर्गीकरण किया गया है। क् त् प् के उच्चारण में ये तंत्रियाँ मुक्त या गतिहीन रहती हैं; किंतु जब ग् द् ब् अथवा कोई स्वर ध्वनि प्रकट करते हैं, तब इन तंत्रियों में कम्पन होने लगता है। इन कम्पनों को हम अपनी उँगलियों से कर्ण-छिद्र बंद कर भी अनुभूत कर सकते हैं अथवा लैरिंगोस्कोप के द्वारा भी देख सकते हैं। किंतु अलिजिह्व को देखने के लिए किसी यंत्र की आवश्यकता नहीं है। दर्पण को सामने रख कर इसकी चंचल गति को हम देख सकते हैं। स्वर-तंत्री के ऊपर और श्वास-नालिका के मध्य नासिका-विवर के ठीक नीचे अलिजिह्व प्रायः तीन अवस्थाएँ प्राप्त करता है। (क) नासिका-विवर के द्वार को बंद कर देता है जिससे समस्त श्वास-वायु मुख-विवर के माध्यम से ही बाहर निकलने लगती है। (ख) मुख-विवर का द्वार बंद कर श्वास-वायु का नासिका-विवर से निस्सरण करा देता है, जिस स्थिति में हम अनुनासिक म, न, ङ आदि ध्वनियों का उच्चारण करते हैं और (ग) तीसरी दशा में अलिजिह्व प्रयत्नहीन होकर श्वास-नालिका का मुख तथा नासिका-विवर दोनों से संबंध बनाये रखता है।

वागिन्द्रियों में जीभ अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। विशिष्ट रूप से लचीली होने के कारण इसका प्रायः प्रत्येक दिशा में निर्देश किया जा सकता है। यह दाँत के आगे भी जा सकती है और उसी के अनुरूप पीछे भी। जीभ के अगले भाग से हम मुख की ऊपरी दीवाल के किसी भी स्थान, ऊपर तथा नीचे के ओठ,

दाँत, दंतकूट (वर्त्स्य) कठोरतालु और कंठ-स्थान के प्रारंभिक भागो को स्पृष्ट कर सकते हैं। जिह्वाग्र की बनावट पतली और लचीली है और इसीलिए यह दाँतो, दंतकूटों तथा तालु का स्पर्श कर बड़ी ही स्पष्ट ध्वनि निकाल सकता है। जीभ का पिछला हिस्सा—पश्चजिह्वा—तुलनात्मक रूप से मोटा है और यह कंठ का स्पर्श कर ध्वनि उत्पन्न करता है। दाँत भी, मुख्यतः ऊपर के दाँत, ध्वनिउच्चारण में उल्लेख्य स्थान के अधिकारी हैं, क्योकि यदि ऊपर में बीच के कुछ दाँत न हों, तो हम कुछ व्यंजन ध्वनियो—दंतोष्ठ्य तथा अंतर्दन्त्यो—का उच्चारण कर ही नहीं सकते हैं। [t d] का हम भले उच्चारण कर लें; किंतु [f V] अथवा अंतर्दन्त्य [θ δ] का तो कदापि नहीं। [t d] वस्तुतः दंतकूटीय (वर्त्स्य) ध्वनियाँ हैं, दंत्य नहीं और [f V] दंतोष्ठ्य हैं, जो ऊपर के दाँत और नीचे के ओठ के सम्मिलित प्रयास से उत्पन्न होती हैं। ओठ भी विविध दशाएँ ग्रहण करते हैं। दोनो आपस में सटकर भीतर से आती हुई श्वास-वायु को क्षण भर अवरुद्ध कर ओठ तथा दाँतों के स्पर्श से दंतोष्ठ्य स्पर्श व्यंजनो को उत्पन्न करते हैं। दोनों परस्पर संघर्ष करके ओष्ठ्य अथवा दंतोष्ठ्य संघर्षी तथा स्पर्शसंघर्षी ध्वनियाँ बनाते हैं। ये ओठ स्वरो के उच्चारण में इन चार अवस्थाओं में से किन्हीं एक को अपनाते हैं। फैले हुए रहते हैं, फैले हुए गोलाकार रहते हैं या सटे हुए गोलाकार रहते हैं अथवा इनके बीच की अवस्था में रहते हैं। ध्वनिविज्ञान में आठ—चार अग्र और चार पश्च—मूलस्वर माने गए हैं।

अग्रस्वरो के उच्चारण में ओठ खुले रहते हैं अथवा तटस्थ रहते हैं और पश्चस्वरो (स्वर ५ को छोड़कर) के उच्चारण की

s

अवस्था में गोलाकार रहते हैं। प्रथम पाँच [ई, ए, ऐ, अ, अ़] की दशा में ओठ तटस्थ रहते हैं। [ऑ] में खुला गोलाकार

रहता है और [ओ ऊ] में सटा हुआ गोलाकार रहता है। [ई] अग्र उच्चस्वर है और [ऊ] पश्च उच्चस्वर है। इस दशा में जीभ स्वर के उच्चारण की चरम उच्च-अवस्था में रहती है। जीभ की इस चरम उच्च-अवस्था से थोड़ी-सी भी उँचाई स्वर में संघर्षत्व या व्यंजनत्व लाकर [ई] को [य] तथा [ऊ] को [व] में परिवर्त्तित कर देती है।
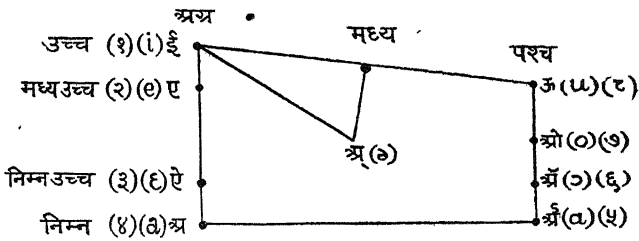
कभी-कभी हम दो संयुक्त स्वरों का भी एक ही बार में उच्चारण करते हैं, जिसमें एक स्वर का ध्वनि-उच्चारण करते हुए हम शीघ्रतापूर्वक दूसरी स्वर ध्वनि पर चले जाते हैं। 'मौन' को हम [maun] तथा 'पैसा' को [Paisa] कहते हैं। संयुक्त स्वरों के दो विभाग किए गए हैं: उठता हुआ तथा गिरता हुआ। अर्थात् पहले में जब हम निम्न स्वर से उच्च स्वर के उच्चारण में संक्रमण करते हैं तथा दूसरे में जब हम उच्च स्वर से निम्न स्वर में गिरते हैं। दो संयुक्त स्वरों में एक जो अप्रधान रहता है, उसमें व्यंजनत्व का धर्म अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट हो जाता है।

स्वर सघोष होते हैं; किंतु व्यंजन सघोष तथा अघोष दोनों होते हैं। स्वर-उच्चारण में श्वास-वायु का अवरोध अथवा मुख का संकुचन नहीं होना चाहिए, व्यंजनों के उच्चारण में हो, तो कोई बात नहीं है। स्वर-तंत्र के अंतराल से प्राणवायु के निस्सरण की शक्तिमत्ता तथा शक्तिहीनता से ध्वनियों में महाप्राणत्व तथा

अल्पप्राणत्व की सृष्टि होती है। व्यंजनों का प्रथम वर्गीकरण हम स्वर-यंत्र से लेकर ओठ तक के उन स्थानों, जहाँ पर बाहर निकलती हुई साँसो में अवरोध उपस्थित किया जाता है, के अनुसार कर सकते हैं और दूसरा उच्चारण के प्रकार अथवा उन प्रयत्नों, जिनके द्वारा वह विकार उत्पन्न किया जाता है, के आधार पर। विश्व की प्रमुख व्यंजन ध्वनियों का वर्गीकरण आप संलग्न पृष्ठ में देख सकते हैं। प्रथम पंक्ति की ध्वनियाँ, प्रकार की दृष्टि से, स्पर्श हैं; क्योंकि दो अवयवों का स्पर्श कर बाहर निकलती हुई श्वास-वायु को किंचित् क्षण के लिए अवरूद्ध कर, और पुनः बाहर छोड़ दिया जाय, तो इस प्रकार बनी ध्वनि को स्पर्श ध्वनि कहते हैं। और स्थान की दृष्टि से [प ब] द्वयोष्ठ्य, [त द] दंतकूटीय तथा [क ग] कंठ्य हैं। श्वास-वायु की शक्ति से ध्वनियों में प्राणत्व का सन्निवेश होता है। [प] अल्पप्राण अघोष ध्वनि है; किंतु जब हम इसमें श्वासो की शक्ति से आघात करते हैं, तब यह ध्वनि [फ] के रूप में महाप्राण होकर सुनाई पड़ती है। इस प्रकार हम प्रत्येक स्पर्श ध्वनि में महाप्राणत्व की निहिति कर सकते हैं; किंतु उसके साथ ही उनके अर्थों में परिवर्त्तन भी हो जायगा। अंगरेजी आदि भाषाओं में जहाँ बलाघात होता है वहाँ ऐसी महाप्राण ध्वनियाँ आकस्मिक रूपों में ही गृहीत होती हैं, उनका कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। अंगरेजी में 'take time' को [t^heik t^haim] कहने से अर्थ का परिवर्त्तन नहीं होता; किंतु हिन्दी अथवा अन्य भारतीय आर्य-भाषाओं में 'काना आया' को [k^hana] 'खाना आया' उच्चारित करें, तो अर्थ का क्या परिवर्त्तन होगा, यह आप स्वयं समझ सकते हैं।

नासिक्य व्यंजन ध्वनियों की उच्चारण-अवधि में मुख-द्वार से श्वासों का निर्गम बंद हो जाता है और श्वास-वायु नासिका-विवर होकर निसृत होने लगती है। मुख की दीवालों द्वारा स्वर-प्रतिध्वनि की व्यवस्था हो जाती है। नासिक्य व्यंजन ध्वनियों में

[म न ङ] मुख्य हैं और ये एक प्रकार से मुखद्वारीय स्पर्श [ब द ग] की ही पूरक ध्वनियाँ हैं। [म] के उच्चारण के समय यदि श्वास-वायु को नासिका होकर न जाने दिया जाय, तो स्वाभाविक रूप से वह श्वास मुखद्वार से निकल कर [ब] के उच्चारण में बदल जायगा। इसी प्रकार [न ङ] भी क्रमशः [द ग] में परिवर्त्तित हो जायेंगे। क्योंकि इनकी स्थानीय समानता तो है ही, मात्र प्रकार या प्रयत्न की भिन्नता होती है। नासिक्य ध्वनियाँ सघोष स्पर्श ही हैं।

संघर्षी ध्वनि स्पर्श ध्वनि के विपरीत है। स्पर्श ध्वनि के काल में जहाँ वायु का मार्ग ओठों द्वारा बंद कर दिया जाता है, वहाँ संघर्षी ध्वनि के उच्चारण-क्रम में उन अवयवों द्वारा वायु-मार्ग का मात्र संकुचन कर दिया जाता है, जिससे स्-स्-जैसी ध्वनि निकलने लगती है, वह एकदम बंद नहीं कर दिया जाता। हिंदी की च् ध्वनि आज प्रायः स्पर्श-संघर्षी है।

पार्श्विक ध्वनि के प्रयत्न में जिह्वा दंतकूट अथवा उसके निकट के किसी भाग पर रख दी जाती है। [ल] का उच्चारण कर आप इस कथन की सत्यता देख सकते हैं। वैसे विभिन्न भाषाओं में [ल] के उच्चारण को लेकर बड़ी भिन्नता है। हमारी भाषा में यह जहाँ दंतकूटीय है यथा [लाभ] या [लौका], वहाँ इतालवी में तालव्य यथा [moλλe] = 'स्त्री'।

लोड़ित की उत्पत्ति में जिह्वाग्र शीघ्रतापूर्वक दंतकूट-क्षेत्रों का, अपने में लिपटते हुए स्पर्शकर, वायु-प्रवाह में कम्पन उपस्थित कर देता है। यथा [राम]; किंतु इसी अवस्था में जीभ यदि तालु का एक झटके के साथ स्पर्श कर पुनः गिर पड़े, तो जो ध्वनि उत्पन्न होती है, उसे उत्क्षिप्त ध्वनि कहते हैं। यथाः [बड़ा]। यहाँ [ड़] के उच्चारण में जीभ कठोर तालु का एक झटके के साथ स्पर्श कर शीघ्रतापूर्वक गिर पड़ती है।

[य] और [व] मूलतः श्रुति हैं। पहले ऐसा बोध होता है कि उच्चारण-अवयव स्वर-ध्वनि को उत्पन्न कर रहा है; किंतु इतने में ही इसकी ऊँचाई उस स्तर को शीघ्रतापूर्वक छोड़कर दूसरे स्वर की प्रधानता पर आकर स्थिर हो जाती है, यथाः [गया] [गये]। कभी-कभी [ह] का भी श्रुति-रूप में प्रयोग होता है। ऐसे प्रयोग-प्रमाण भोजपुरी में उपस्थित हैं।[१]

ध्वनि का यह रूप तो उसका स्वनिक विवरण-पक्ष है; किन्तु जब हम यथार्थतः भाषा का सामान्य प्रयोग करते हैं, तो उस स्थिति में उसकी ध्वनि-तरंगों अथवा उसके रागों का ही बोध हम ग्रहण करते हैं। ध्वनि का यह राग-तत्त्व (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, बलाघात, संधियाँ, सुर आदि) हमारे भाषा-उच्चारण की आनुक्रमिक इकाइयों—ध्वनिग्राम, अक्षर, पदग्राम, शब्द-समूह और वाक्य—को आवश्यक जीवन तत्त्व प्रदान करते हुए समग्रतापूर्वक ढँक लेता है। भाषाविदों ने ध्वनि के पहले स्वरूप को जहाँ खंडात्मक माना है, वहाँ दूसरे को उपरिखंडात्मक।

किसी ध्वनि के उच्चारण में जो अवधि लगती है, उसी अवधि या काल के आधार पर उसकी मात्रा या ह्रस्वत्व और दीर्घत्व का निर्णय किया जाता है। हमारे प्राचीन ध्वनिशास्त्रियों ने केवल स्वरों की मात्राओं का ही विवेचन किया है; किंतु आधुनिक व्यंजनों को भी हम मात्रा की दृष्टि से विचारें, तो स्पष्ट मालूम होगा कि [रुका] का [क] जहाँ ह्रस्व है, वहाँ [रुक्का] का दीर्घ। प्लुत का प्रयोग प्रायः पुकारने के समय ही किया जाता है। वस्तुतः यह संस्कृत भाषा

---

१. बहुतेरी बोलियों में 'य' और 'व' के समान ही 'ह' का भी श्रुति-रूप में ही प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ भोजपुरी में पी+ई, दी+ई के बीच 'ह' का आगम करके पीही, दीही आदि जो भविष्यत् रूप बनते हैं, उनमें 'ह' का स्थान श्रुति-रूप में ही है।
—डा० विश्वनाथ प्रसाद : भारतीय साहित्य (जनवरी '५६) पृ०-३८।

की भ्रांति ही है कि उसमें अ का दीर्घ आ तथा इ का दीर्घ ई को मान लिया गया है जबकि यथार्थता यह है कि इनके उच्चारण में जिह्वा का प्रयत्नगत स्थान-भेद भी हो जाता है; किंतु व्यंजनों के साथ ऐसी बात नहीं है। इसमें स्थानगत परिवर्त्तन तो नहीं होता, हाँ मात्रा-भेद अवश्य हो जाता है। लिपि में इसे निर्दिष्ट करने की जो पद्धति है वह संयुक्त व्यंजनों तथा कुछ विशेष चिह्नों को लगाकर किया जाता है। रोमन लिपि में दो बिन्दुओं (:) से दीर्घ और एक बिन्दु (˙) से अर्द्धदीर्घ तथा देवनागरी में (ऽ) एवं (।) के विशेष संकेतों से दीर्घत्व और ह्रस्वत्व का बोध कराया जाता है।

वागिन्द्रियों में शक्ति के आनुपातिक अधिक विनियोग से ही आघात की उत्पत्ति की जाती है। इस शक्ति का परिचय कभी-कभी हम शारीरिक अंगों के संचालन से भी करते हैं। इस आघात को मापने के लिए भाषा के जिस अवयव का व्यवहार किया जाता है, वह है अक्षर या सिलेब्ल। और इस सिलेब्ल का निर्द्धारण विभिन्न भाषाओं में उनकी प्रकृति के अनुसार, विविध प्रकार से किया जाता है। सिलेब्ल वह ध्वनि-खंड है, जो एक ही श्वास-प्रयास में प्रधानता से उच्चरित होता है और इस प्रधानता का विस्तार अथवा संकुचन हम ध्वनि की अन्य विशेषाओं—मात्रा, बलाघात और सुर या सबके संयोग—से कर सकते हैं। बलाघात-भेद से अर्थ-भेद भी हो जाते हैं। यथा :

ˈआप यह बात जानते हैं।
आप ˈयह बात जानते हैं।
आप यह ˈबात जानते हैं।
आप यह बात ˈजानते हैं।

सुर स्वर-तंत्र के कम्पन के आधार पर ध्वनि की संगीतात्मकता से प्रादुर्भूत होता है। सुर बलाघात से पृथक् वस्तु है, फिर भी दोनों में कुछ समता भी है क्योंकि ध्वनि की प्रधानता प्रायः दोनों

के संयोग से ही उत्पन्न की जाती है। हम यह जानते हैं कि स्वर-तंत्र का कम्पन सघोष ध्वनियों से ही संभव होता है और यही कम्पन संगीत का मूल है। अतः जहाँ अघोष ध्वनियाँ होती हैं, वहाँ सुर का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता। श्वास की गति से ध्वनि के क्रम मे आरोह-अवरोह होता रहता है और ध्वनि की इसी अविच्छिन्न परिवर्त्तनशीलता से सुर के तीन भेद किए गए हैं—उठता हुआ, गिरता हुआ तथा सम अथवा बराबर।

हमारे यहाँ प्राचीन आर्यभाषा के वैदिक संस्कृत मे भी सुर के इस पहलू पर विचार किया गया है और उन्होंने भी सुर के तीन भेद—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित—किए थे। इंद्रशत्रु शब्द के उच्चारण मे सुर-भेद से जो अनर्थ हो गया था, इस पौराणिक कथा से आप परिचित ही है। किंतु आज आधुनिक आर्यभाषा हिंदी में सुर का प्रयोग केवल विस्मय, मनोराग, विधि-निषेध, प्रश्न आदि के लिए ही किया जाता है। चीनी आदि भाषाओं में सुर की जो प्रधानता है, वह हमारे यहाँ नही है। फिर भी, कुछ स्थितियो में हम सुर का प्रयोग करते है और उससे अर्थभेद भी ग्रहण करते हैं, जैसे :—
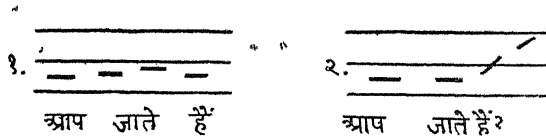
संधिराग भी वस्तुतः भाषा की ध्वन्यात्मक विशेषता ही है जिसके अभाव में किसी भी भाषा का व्यावहारिक प्रयोग बड़ा कष्ट-साध्य है। लिखने के क्रम में तो हम दो शब्दखंडो के बीच थोड़ा अवकाश देते हैं; किंतु ध्वनि-उच्चारण की प्रक्रिया में हम तात्पर्य-बोध तथा श्वास-विश्राम के लिए सामान्यतः दो-चार शब्दखंडों से अधिक जाकर ही रुकते हैं। इसीलिए ह्विटनी ने भी कहा था

कि "पृथक्-पृथक् ध्वनियों को उत्पन्न करने वाली प्रणाली को नहीं, वरन् भाषा के लिए उनके सम्मिश्रण की प्रणाली को ही उच्चारण कहना चाहिए।" और, जब हम भाषा का प्रयोग करते हैं, तो यही उच्चारण हमारा साधन होता है। जब हम दो ध्वनियों का उच्चारण करते हैं, तो उनके सम्मिश्रण से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, वस्तुतः वही संधि है। इसे छान्दिक तत्त्व भी कहते हैं। 'रत जगा' का जब हम उच्चारण करते हैं तो प्रायः 'रज्जगा' ही कहते हैं। इसी प्रकार 'एक-एक ईंट उठा लाओ' तो लिखते हैं; किंतु उच्चारण हम करते हैं 'एकेकींटुठा'लाओ'। भाषा का यह राग वस्तुतः व्यक्ति पुस्तकों के माध्यम से नहीं जानता, वरन् उसके प्रयोगों से ही अनायासरूप में सीखता चला जाता है।

पद

भाषा की ध्वनियाँ जहाँ से अर्थ की परिधि में प्रवेश पाती हैं, वहीं से पदों की विवेचना प्रारंभ होती है। भाषा की इकाई पद है अथवा वाक्य, शब्द शुद्ध है अथवा पद, इन समस्याओं पर हमारे भाषाशास्त्रियों ने पर्याप्त मंथन किया है। वस्तुतः ध्वनि-ग्राम की भाँति ही पद भी भाषात्मक इकाई के अंतर्गत परिगण्य नहीं है।

औपचारिक कार्य-संचालन की दृष्टि से इस पद की जो परिभाषा स्थिर की जा रही है, वह यह है कि एक या इससे अधिक पदग्रामों से युक्त पद भाषा का लघुतम स्वतंत्र रूप-तत्त्व है और यह पदग्राम भाषा की विशिष्ट या लघुतम इकाई है जिसमें अर्थ का स्वेच्छया संयोग विद्यमान रहता है। यह स्वतंत्र तथा बद्ध दोनों ही रूपों में रह सकता है। इस कथन को उदाहृत करने के लिए हम कुछ शब्द लें, यथा : पुस्तक, पुस्तकें, पुस्तकीय तथा पुस्तक-घर। 'पुस्तक'[१] एक पदग्राम का सरल शब्द है जिसको टुकड़ों में बाँट कर हम अर्थ नहीं ले सकते। 'पुस्तकें' पुस्तक + ें (बहुवचन का बद्ध पदग्राम) इन दो पदग्रामों के संयोग से बना है। ें बद्ध पदग्राम इसलिए है कि इसका हम स्वतंत्रतापूर्वक (पुस्तक की भाँति) प्रयोग नहीं कर सकते। अतः इसे श्लेष कहते हैं। इसी प्रकार पुस्तक + ईय, प्रथम स्वतंत्र तथा द्वितीय विशेषण-बोधक बद्ध पदग्राम के योग से 'पुस्तकीय' शब्द बना है। किंतु 'पुस्तकघर' शब्द में दो पदग्राम हैं अवश्य; फिर भी, दोनों स्वतंत्र हैं और जब

---

१. संस्कृत के अनुसार 'पुस्तक' शब्द पुस्त+स्वार्थे कन्, के रूप में विश्लिष्ट किया जायगा; किंतु बोलचाल की हिंदी के अनुसार 'पुस्तक' को एक ही पदग्राम मानना चाहिए। —लेखक।

हम दोनों को संयुक्त कर व्यवहृत करते हैं तब ये दोनों पदग्राम मिल कर एक समास-शब्द का रूप धारण कर लेते हैं।

इस प्रकार पद-रचना के जो रूप स्थिर हुए, उनके अनुसार सरल (पुस्तक) मिश्र (पुस्तकें, पुस्तकीय) तथा समास (पुस्तक-घर) की कोटियाँ निर्धारित की गईं। 'पुस्तकें' श्लिष्ट, 'पुस्तकीय' अश्लिष्ट तथा 'पुस्तक-घर' सामासिक रूप हैं।

'पुस्तक' एक पदग्राम का सरल पद है जिसको हम आधार-तत्त्व कह सकते हैं। और इसी आधार-तत्त्व में जब हम खंडात्मक पदग्राम को युक्त करते हैं तब वह श्लिष्ट हो जाता है। यह श्लेष जब संज्ञाओं और सर्वनामों के विभक्ति-रूपों (विकारियों) तथा क्रियाओं के संयोजक-तत्त्वों के रूप में आता है, तब यह 'शब्द रूपनिदर्शन' (Paradigms) भी कहा जाता है। यह श्लेष-बद्ध पदग्राम होता है और विभिन्न भाषाओं में इसकी संख्या भी विभिन्न रूप में पाई जाती है।

अश्लिष्ट अथवा प्रत्ययीकरण ही पद-प्रक्रिया की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित है, यद्यपि कुछ भाषाओं तथा सुर-सम्पन्न चीनी-तिब्बती भाषाओं आदि में इसके बद्ध पदग्राम-रूपों का सर्वथा प्रयोग नहीं किया जाता है। इसके सामान्यतः तीन विभाग किये जाते हैं : पूर्वयोग, मध्ययोग तथा अंतयोग। यह वर्गीकरण उनके स्थान-योग के आधार पर ही किया गया है। आधार शब्द (तत्त्व) के पूर्व जब हम कुछ शब्द लगाते हैं, तब वह पूर्वयोग है, यथा : प्र—बल; मध्ययोग, म— पं—झि (संताली =मुखियागण) तथा अंतयोग, मानव—ता। ये तीनों योग—पूर्व, मध्य, अंत—एक भाषा से दूसरी भाषाओं में विभिन्न प्रकृतियों के अनुसार व्यवहृत होते हैं। तुर्की, एस्किमो, नूटका (वैंकोवार द्वीप) तथा नामा भाषाएँ पूर्वयोग का सर्वथा व्यवहार नहीं करतीं।

मध्ययोग के उदाहरण भारोपीय भाषाओं के वर्त्तमान कालिक क्रिया-रूपों के नासिक्य व्यंजनों में ही मुख्यतः पाये जाते

हैं। प्रशांत महासागरीय तथा मुंडा भाषाओं में इसके पर्याप्त प्रयोग मिलते हैं। पूर्व-योगात्मकता की स्थिति भारोपीय भाषाओं में प्रचुर है। आधार-शब्द में इसके योग से जहाँ अर्थ-तत्त्व की परिधि में विस्तार होता है, वहाँ अंतयोग मिश्र शब्दों के संबंधतत्त्व, वाक्य के अन्य अंगों के साथ, उसके काल, पुरुष, वचन, वाच्य आदि के विषय में हमें बोध देता है। अतः पूर्वयोग जहाँ अर्थ-तत्त्व से संबंधित है वहाँ अंतर्योग पद-रचना के शब्द-समूह का परिचय उपस्थित करता है।

किंतु सामासिक या समासजात शब्दों की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है, क्योंकि यह दो स्वतंत्र शब्द के परस्पर मिलन से एक वृहत् शब्द की रचना द्वारा सम्पन्न होता है। इन समासों के मुख्यतः तीन भेद किये गए हैं।[१] (क) संयोगमूलक या द्वन्द्व समास, जिसमें संयोगी पद परस्पर स्वतंत्र रहते हैं। द्वन्द्व का शाब्दिक अर्थ ही जोड़ा है। औ, और, एवं, तथा संयोजक-अव्ययों द्वारा इसका विग्रह किया जाता है। यथा : माँ-बाप; भाई-बहन। दूसरा है (ख) व्याख्यानामूलक समास जिसके पुनः अन्य तीन उपविभाग किए गए हैं : (१) तत्पुरुष (२) कर्मधारय (३) द्विगु। तत्पुरुष अर्थतः उसका संपर्की पुरुष विशेष्य + विशेष्य होता है; किंतु प्रथम पद द्वितीय पद के अर्थ को सीमित कर देता है। प्रथम पद का अन्वय द्वितीय पद के साथ कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण रूप में होता है और अर्थ द्वितीय पद का ही प्रधान रहता है। कर्मधारय अर्थात् कर्म या वृत्ति का धारण करने वाला, विशेषण + विशेष्य, विशेष्य + विशेषण, विशेषण + विशेषण तथा विशेष्य + विशेष्य पदों के संयोग से निष्पन्न किया जाता है। यथा : लालटोपी, घनश्याम, खट्टा-मीठा, राजाबहादुर। द्विगु का संस्कृत में दो गायों अथवा गाय के समष्टि अर्थ में व्यवहार किया जाता है। अतः संस्कृत वैयाकरण

---

१. डॉ० उदय नारायण तिवारी : भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृ० १७६।

के अनुसार इसका प्रथम पद संख्यावाचक तथा समस्त पद द्वारा संयोग या समष्टि का बोध ग्रहण किया जाता है। यथाः नवरत्न, चतुर्भुज। और तीसरा (ग) हैः वर्णनामूलक अथवा बहुव्रीहि समास। बहुव्रीहि का अर्थ होता है बहुत धान्य। इसमें कोई भी पद प्रधान नहीं होता और इसके समस्त पद से किसी अन्य अर्थ का बोध कराया जाता है। जैसे, पीताम्बर (=कृष्ण)।

कभी-कभी हम एक पद के द्वित्व प्रयोग से भी उसके अर्थ की मात्राओं का भेद उपस्थित करते हैं। यथा : बहुत-बहुत। और इससे हम बहुत विशेषण की महत्तम मात्रा का बोध पाते हैं। ऐसे प्रयोग हम क्रियाओं के साथ भी करते हैं।

समासजात शब्दों की यह पद्धति एक भाषा से दूसरी भाषा में अंतर रखती है। चीनी-जैसी वियोगात्मक भाषाओं में जहाँ श्लिष्ट तथा अश्लिष्ट की रचना-प्रक्रियाएँ उपयुक्त नहीं हैं, वहाँ इसी समासीकरण की प्रक्रिया-पद्धति से अधिकांश रचना-समस्या को सरलीकृत किया जाता है।

उपर्युक्त पद-रचना की इस संक्षिप्त विवेचना के आधार पर हम संसार की भाषाओं का जो वर्गीकरण करते हैं उसे आकृति-मूलक वर्गीकरण कहते हैं। विश्व की समस्त भाषाओं के प्रथमतः दो विभाग किये गए हैं : विश्लेषण-प्रधान भाषाएँ तथा संश्लेषण-प्रधान भाषाएँ। विश्लेषण-प्रधान भाषाएँ वे हैं जिनमें पदों के स्वतंत्र रूपों का उपयोग किया जाता है और संश्लेषण-प्रधान भाषाओं में इसके बद्ध रूपों का। सम्प्रति बोली जाने वाली भाषाओं में चीनी पूर्णतः विश्लेषणात्मक भाषा है जिसमें प्रत्येक पद स्वतंत्र है और उसके विभिन्न स्थानीय संयोगों से विभिन्न अर्थ निकाले जाते हैं। संश्लेषणात्मक भाषाओं में एस्किमो एक अच्छा उदाहरण है जिसमें पदों की एक लम्बी शृंखला केवल एक पद-निर्माण के लिए प्रस्तुत की जाती है। विश्लेषण-संश्लेषण की यह भाषा-प्रकृति वस्तुतः चक्र की भाँति बराबर गतिशील

रहती है। हम अपनी भाषा के इतिहास से ही इस तथ्य का प्रमाण पा सकते हैं कि प्राक् भारोपीय अथवा जबसे हमें भाषाओं के लिखित स्वरूप प्राप्त होते हैं, तब से भाषा संश्लेषण से विश्लेषण की ओर अग्रसर हुई है और पुनः विश्लेषण की चरम अवस्था को उपलब्ध कर वह फिर उसी केंद्र पर पहुँचती है जहाँ से उसने अपना प्रारंभिक विकास पाया था।

संसार की समस्त भाषाओं को और अधिक सुविधापूर्वक विभक्त करने के लिए इसके चार वर्ग स्थापित किये गए हैं : अयोगात्मक; श्लेषात्मक; योगात्मक या प्रत्यय प्रधान तथा प्रश्लेषात्मक अथवा समास-प्रधान।

अयोगात्मक भाषाएँ वस्तुतः विश्लेषण-प्रधान भाषाएँ ही हैं जिनमें पुनः चीनी तथा तिब्बती भाषाएँ आती हैं। श्लेषात्मक भाषाओं में लिथुएनियन, लेटिश तथा प्राचीन भारोपीय (संस्कृत, प्राचीन ग्रीक आदि) भाषाएँ आती हैं। इसके दो अन्य उप-विभाग भी किये गए हैं। प्रथम जिनमें युक्त की गई ध्वनियाँ उनके मूल अर्थ-तत्त्व में मिल जाती हैं और दूसरी में युक्त किया जाने वाला अंश आधार-तत्त्व के बाद आता है। सिमेटिक कुल की भाषाएँ प्रथम उप-विभाग में आती हैं और संस्कृत, प्राचीन ग्रीक आदि भाषाएँ दूसरे उप-विभाग में। योगात्मक या प्रत्यय-प्रधान भाषाओं में यूरालीय-अल्टाइक भाषाएँ आती हैं। तुर्की विश्व की सर्वाधिक योगात्मक भाषा मानी जाती है। इसमें आधार-तत्त्व के साथ प्रत्यय अथवा पदग्रामों को संयुक्त कर दिया जाता है। प्रश्लेषात्मक या समास-प्रधान भाषाओं में पदों का समास की प्रक्रिया से योग किया जाता है और इस प्रकार कभी-कभी एक पूरे वक्तव्य या वाक्य की रचना ही हो जाती है। मैक्सिको की प्राचीन भाषा नहॉट्ल (Nahautl) तथा ग्रीनलैंड की भाषाएँ इसी कोटि में आती हैं।

किंतु यहाँ यह आवश्यक रूप से ध्यातव्य है कि यह वर्गीकरण किसी ऐसे नियम से नहीं बना है कि इसमें कुछ परिवर्त्तन न हो। कुछ भाषाएँ एक ही साथ कई वर्गों में रखी जा सकती हैं। फिनिश भाषा एक ही साथ योगात्मक भी है तथा श्लेषात्मक भी; अंगरेजी और हिंदी अयोगात्मक श्लेषात्मक हैं। अतः यह स्पष्ट है कि इस विभाजन की कोई स्पष्ट अपरिवर्त्तनशील रेखा नहीं खींची जा सकती है।

वाक्य

भाषाशास्त्रियों का भाषा की इकाई के संबंध में जो विवाद पदों से प्रारंभ हुआ था, उसकी परिणति वस्तुतः वाक्य के विवेचन के पश्चात् ही हुई और उन्होंने यह स्वीकार भी कर लिया कि बोली अथवा भाषा की मुख्य इकाई वाक्य ही है। इस वाक्य को, एक सरल परिभाषा के अंतर्गत हम कह सकते हैं, वह उच्चारण की लघुतम पूर्णता है जो एक ही लघुतम स्वतंत्र पद-रूप से भी बन सकता है। यदि किसी ने पूछा कि 'इसके लिए कौन उत्तरदायी है?' तो दूसरा मात्र 'तुम' कह कर उसकी जिज्ञासा की तुष्टि कर सकता है। और, इस प्रकार एक ही स्वतंत्र पद-रूप यह 'तुम' दो विरामों के मध्य एक पूर्ण वाक्य के रूप में हमारे समक्ष आ सकता है। किंतु, हमारे सामान्य जीवन-व्यवहार में दो या इनसे अधिक स्वतंत्र पद-रूपों के संगठन से ही अधिकांशतः वाक्यों का विन्यास किया जाता है। 'गणेश मोहन को पीटता है' (कर्त्ता+कर्म+क्रिया) से हम यह बोध पा जाते हैं कि वक्तव्य का क्या अर्थ है; किंतु इन्हीं पदों को यदि हम इस भाँति रखें कि 'है गणेश मोहन पीटता को' तो उपर्युक्त वाक्य के संपूर्ण पदों की उपस्थिति में भी हम अपेक्षित कथ्य को ग्रहण नहीं कर सकते। अतः यह स्पष्ट है कि वाक्य की रचना-प्रणाली अथवा उसके साँचे को हम बदल नहीं सकते। उन साँचों में मात्र शब्दों को भर कर ही हम अपना-कार्य पूरा करते हैं।

भाषा का कोई वक्ता और उस वक्ता का कुछ वक्तव्य होता है। वक्ता तथा वक्तव्य के इस मूल आधार पर वाक्य के प्रथमतः दो विभेद किये गए हैं : उद्देश्य तथा विधेय। वाक्य का यह वर्गीकरण एक-दो—मलायोपोलिनेशियन तथा मैक्सिको की

कुछ भाषाओं—को छोड़कर विश्व की प्रायः सभी और विशिष्ट-रूप से भारोपीय भाषा-परिवार की भाषाओं को दृष्टि में रख कर ही किया गया है। फिर भी कर्त्ता (उद्देश्य) तथा कर्म, क्रिया (विधेय) के इस वर्गीकरण को हम सार्वजनीन नहीं कह सकते; क्योंकि प्रत्येक भाषा की अपनी 'विशिष्टता होती है और उसी के अनुरूप उसका साँचा भी होता है। 'लल्लू' (उद्देश्य-कर्त्ता) 'लिखता है' (विधेय—क्रिया) एक कर्त्ता और एक क्रिया का सरल वाक्य है; किंतु 'लल्लू ने लिखा है कि वह परीक्षा देगा' दो उप-वाक्यों के 'कि' समुच्चयबोधक अव्यय के संयोग से बना है। अतः जब एक प्रधान वाक्य किसी दूसरे अप्रधान या आश्रित उपवाक्य से बनता है, तब हम उसे मिश्र वाक्य कहते हैं और जब एक प्रधान वाक्य में एक से अधिक कई उपवाक्य आते हैं तब उसे हम संयुक्त वाक्य कहते हैं जो एक-दूसरे से संयोजक, वियोजक, परिणामदर्शक अव्ययों के द्वारा अनुस्यूत रहते हैं। हिंदी में इन आश्रित उपवाक्यों की सामान्यतः तीन कोटियाँ निर्धारित की गई हैं : संज्ञा उपवाक्य अर्थात् जो प्रधान उपवाक्य के उद्देश्य, कर्म या पूरक के स्थान पर आता है; विशेषण उपवाक्य जो प्रधान उपवाक्य की संज्ञा अथवा सर्वनाम की विशिष्टता बतलाता है तथा क्रिया-विशेषण उपवाक्य जो प्रधान उपवाक्य की क्रिया की विशेषता बतलाने के लिए आता है।

वाक्यों के ये उपर्युक्त विभेद—सरल, मिश्र और संयुक्त—भाषा के सुर तथा आघात से भी स्पष्ट होते हैं और इस प्रकार इसकी चार श्रेणियाँ की गई हैं : विधानार्थक, आज्ञार्थक, प्रश्नार्थक और विस्मयार्थक। 'मुझे भय है। कल वह समाप्त हो जायगा।' सरल वाक्य है। किंतु विराम और ध्वनि में किंचित् परिवर्त्तन कर हम कह सकते हैं : 'मुझे भय है, कल वह समाप्त हो जायगा।'

आज्ञार्थक वाक्य मात्र आज्ञा—'जाओ' 'करो' आदि—से ही

संबंधित नही है, प्रत्युत अनुरोध, निषेध, इच्छा, प्रार्थना आदि भी व्यक्त करता है। मध्यम पुरुष में आज्ञार्थक वाक्य केवल क्रिया के रूप में भी व्यवहृत किया जा सकता है। यथा : 'जाओ' (तुम); किंतु क्रिया पर बल देने के लिए कर्त्ता का भी हम प्रयोग करते हैं। प्रथम तथा तृतीय पुरुषों में आज्ञार्थक क्रियाएँ अपना वाच्य परिवर्त्तित कर लेती हैं। 'हमें जाना चाहिए' तथा 'उसे जाना चाहिए' उदाहरणस्वरूप लिए जा सकते हैं।

प्रश्नार्थक वाक्य के दो भेद हैं : सामान्य और विशेष। सामान्य जिसका उत्तर हम केवल हॉ-ना या मात्र अंग संचालित कर ही दे सकते हैं। 'राम घर में है?'—नहीं (ऊँहुँ)। और, विशेष जिसका उत्तर हम इतनी सुविधा के साथ नहीं दे सकते। ऐसे प्रश्न प्रायः सर्वनाम, विशेषण एवं क्रियाविशेषण के पदो से संवलित होते हैं। इन पदो का क्रम हिंदी में क्रिया के ठीक पूर्व तथा कभी-कभी वाक्य के प्रारंभ में भी आता है जबकि अंगरेजी में इनका स्थान सर्वथा प्रारंभ में ही रहता है। 'राम घर में क्या कर रहा है?' इस प्रश्न का उत्तर हम सामान्य रीति से नहीं दे सकते हैं।

विस्मयार्थक वाक्य हृदय की भावनाओं को ही अभिव्यक्त करता है, जो हे, अरे, रे, गे आदि पदों से संयुक्त रहते हैं।

वाक्य की इन चारों श्रेणियों में वस्तुतः पदों का अनुक्रम ही अपने महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। बहुत-से भाषा-वैज्ञानिकों के अनुसार तो पदों के आनुक्रमिक विन्यास की विवेचना ही वाक्य-विवेचना का आधार है। और, वाक्य-विन्यास-प्रक्रिया में क्रमों की पारस्परिक आकांक्षा, अन्वय एवं आसक्ति की बात कही जाती है।

प्रत्येक भाषा में वाक्य के इस क्रम की अपनी पृथक् प्रकृति है। हिंदी में प्रायः कर्त्ता, कर्म और क्रिया (गणेश + मोहन को + मारता है) का अनुक्रम रखा जाता है; किंतु अंगरेजी में कर्त्ता,

क्रिया और कर्म (Ganesh + beats + Mohan) का क्रम है। जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओं के भी पदानुक्रम अलग-अलग हैं। हिन्दी के उपर्युक्त कर्त्ता, कर्म, क्रिया के क्रम में हम कभी-कभी विपर्यय भी देखते हैं। 'देखता हूँ मैं घोड़ा' (क्रिया + कर्त्ता + कर्म); 'घोड़े को देखता हूँ मैं' (कर्म + क्रिया + कर्त्ता) आदि निदर्शन उपस्थित किये जा सकते हैं; किंतु वाक्य की यह प्रणाली मुख्यतः भाषा की लयात्मकता को पुष्ट करने के लिए कार्य में लायी जाती है अथवा जब हमारी सामान्य भाव-दशा किसी विशेष से आन्दोलित होती है।

विशेषण का प्रयोग विशेष्य के पूर्व ही सामान्यतः किया जाता है; किंतु यदि विशेष्य के बाद विशेषण का प्रयोग किया जाता है, तो उससे अर्थ का कोई परिवर्त्तन नहीं होता; वह मात्र पूरक हो जाता है। 'अच्छी लड़की है', 'लड़की अच्छी है' में कोई अंतर नहीं आता; किंतु फ्रेंच में इस विशेषण-विशेष्य के क्रम-भेद से अर्थ-भेद भी हो जाता है: de braves hommes (अच्छा आदमी); des hommes braves (बहादुर आदमी)।

क्रियाविशेषण जिसकी (क्रिया, विशेषण) विशेषता बतलाता है, उसके प्रायः पूर्व ही आता है; किंतु स्थान तथा कालवाचक क्रियाविशेषण साधारणतः कर्त्ता के पश्चात् तथा कभी-कभी वाक्य के प्रारंभ में भी आ जाता है। 'वह खूब खाता है।' 'वह खूब सुंदर है।' 'राम कहाँ जाता है।' 'कहाँ राम जाता है।' उदाहरण हैं।

वाक्य में जो कारक-विभक्तियाँ आती हैं, उनका भी एक क्रम है। इस क्रम के अभाव में फिर उनका कोई अर्थ नहीं। कर्त्ता का 'ने' ठीक कर्त्ता के बाद आता है। कर्म यदि दो होते हैं, तो मुख्य कर्म के बाद तथा गौण कर्म के पूर्व इसका चिह्न आता है। करण कारक कर्म के बाद आता है; किंतु यदि कर्म दो हैं, तो दोनों के मध्य आता है। सम्प्रदान, अपादान एवं अधिकरण

कर्त्ता और क्रिया के बीच आते हैं। संबंध कारक का चिह्न, जिस शब्द का संबंध दिखाना अभीष्ट होता है, उसके पूर्व आता है। संबोधन तथा विस्मयादिबोधक चिह्न साधारणतः वाक्य के प्रारंभ में आते हैं।

आकांक्षा अर्थतः इच्छा का द्योतन करती है और इच्छा की अथवा भाव की जब वाक्य में पूर्णता आ जाती है, तभी आकांक्षा की दृष्टि से वाक्य सम्पन्न समझा जाता है। आकांक्षा के विश्लेषण से यह मालूम हो जाता है कि वाक्य वस्तुतः और कुछ नहीं मनुष्य की मनोवैज्ञानिक अर्थच्छायाओं की ही शृंखला है, जो अभ्यासतः उसके मानसिक स्तर पर पहले से ही विद्यमान रहती आई है।

अन्वय अथवा साधर्म्य-निरूपण वाक्यगत पदों के अपेक्षित एकरूपता के संबंध को प्रकट करता है। कर्त्ता के वचन, लिङ्ग तथा कारक की दृष्टि से विशेषण और कर्त्ता एवं कर्म के वचन, पुरुष और लिङ्ग की दृष्टि से क्रिया की एकरूपता का विधान-विवेचन ही अन्वय कहलाता है।

कर्त्ता के स्वरूप से अनुरूप ही उसके विशेषण की व्यवस्था की जाती है। 'लड़की' की विशिष्टता के लिए हम 'अच्छी' का ही प्रयोग कर सकते हैं; किंतु लड़के के वैशिष्ट्य-बोध के लिए इसमें हमें परिवर्त्तन की अपेक्षा होगी, अन्यथा कर्त्ता के धर्मानुरूप हमारा विशेषण-पद नहीं हो सकेगा। अंगरेजी में कर्त्ता के वचन और लिङ्ग से विशेषण में कोई विकार नहीं होता है : (White House, White Houses, white lady, white male); किंतु जर्मन और फ्रेंच में मात्र वचन के परिवर्त्तन से ही आर्टिकिल तथा विशेषण-पद दोनों में विकार आ जाता है : das weisse Haus; die weissen Hauser; la maison blanche; les maisons blanches.

क्रिया का लिङ्ग, वचन तथा पुरुष कभी कर्त्ता के अनुरूप रहता है, कभी कर्म के। किंतु क्रिया की एक ऐसी भी स्थिति

रहती है जब वह कर्त्ता और कर्म के धर्म से सर्वथा भिन्न होकर एकवचन पुल्लिङ्ग हो जाती है।

पद की पूर्णता के परिणामस्वरूप भी यदि उनकी वाक्यगत आसक्ति अथवा सन्नधि नही है, तो उसे हम वाक्य का अभिधान नहीं दे सकते। सोमवार को हमने 'राम' कहा और बृहस्पतिवार को 'गया', तो क्या इसे हम वाक्य कहेगे? स्पष्ट है कि इसे हम वाक्य के रूप में नही ले सकते। इसके लिए पदो की आसक्ति आवश्यक है, जो हमारे लिए अर्थ बोध की योग्यता का वांछित क्रम है।

किंतु इतना कुछ विचार कर लेने के उपरांत यह कथन अनुपयुक्त नही है कि हम अपने सामान्य जीवन में पर्याप्त विवेचन-विश्लेषण के बाद वाक्य का प्रयोग नही करते। परम्परा से प्राप्त वाक्य के साँचे को अनायास हम ग्रहण करते हुए मानसिक स्तर पर कार्य-संचालनार्थ उनकी अभिव्यक्ति करते रहते है।

अर्थ

परम्परा-प्राप्त तथा यदृच्छापूर्वक निर्णीत अर्थ के आधार पर ही हम किसी शब्द की अभीष्ट अर्थच्छाया की प्राप्ति करते रहे हैं। भला इसका क्या तर्क हमारे पास है कि 'गाय' शब्द से जिस चतुष्पद का अर्थ हम लेते हैं, वह 'घोड़ा' शब्द से क्यों नहीं ले सकते? इसका एकमात्र उत्तर तो यही दिया जा सकता है कि 'गाय' शब्द से जिसका अर्थ ग्रहण किया जाता रहा है, उसकी एक परम्परा है तथा जिसके साथ हमारे पूर्वजों ने उसी चौपाया-विशेष के लिए ही उक्त शब्द के अर्थ-प्रयोग की सुरक्षितता वर्त्तमान रखी। अर्थ-प्राप्ति की यह वस्तु-मूर्त्ति-प्रतीक-पद्धति है। 'गाय' एक जीवित दूध देने वाली चतुष्पद प्राणी है, जो वस्तु है और इस शब्द के उच्चारण से उसका जो आकारिक चित्र हमारी मानसिक स्थिति में है, वह मूर्त्ति है। वस्तु का यही मानसिक आकार-चित्र 'गाय' शब्द द्वारा प्रतीकीकृत किया जाता है। किंतु अर्थ की इस प्रक्रिया-पद्धति की भी सीमाएँ हैं। मनोवैज्ञानिकों ने इस तथ्य को प्रायः प्रमाणित कर कर दिया है कि सभी व्यक्ति वस्तुतः मूर्त्ति के आधार पर अर्थ-ग्रहण नहीं करते। अत्यंत बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति तो कभी-कभी शब्द के आधार पर ही सोचते देखे गए हैं। द्वितीयतः यह कि प्रतीक-मूर्त्ति-वस्तु-पद्धति तो मात्र स्थूल वस्तुओं के संबंध को ही लेकर अग्रसर हो सकती है। सूक्ष्म यथा विशेषण-क्रिया आदि के लिए क्या कहा जाय? तीसरी पुनः एक और कठिनाई आ जाती है कि कुछ शब्दों के तो कोई अर्थ ही नहीं हैं—आह, ओह, कि, हुर्रा आदि के क्या अर्थ दें। ऐसे शब्द तो वैयक्तिक अनुभूति के आश्चर्य, विजय, निराशा, दुःख, हँसी आदि के संदर्भगत सुरों पर ही अर्थ

दे सकते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि इस प्रतीक-मूर्त्ति-वस्तु-पद्धति की कार्यगत अव्याप्ति है, फिर भी, वस्तु अर्थ की समानान्तरता में किसी भी भाषा के अर्थ-अध्ययन में इस पद्धति की हम उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। सामान्य जीवन-व्यापार में ऐसी शब्द-अर्थ-पद्धति की निजी विशिष्टता है।

अर्थ-विज्ञान की दृष्टि से भाषात्मक स्वरूप की जब हम विवेचना करते हैं, तो हमें यह सहज ज्ञात हो जाता है कि भाषा की प्रत्येक खंडात्मक अभिव्यक्ति अपनी प्रभावपूर्ण प्रेषणीयता में सब स्तरों—ध्वनि, पद, वाक्य—पर न्यूनाधिक मात्रा में आवश्यक रूप से अर्थ-संवलित रहती है। और इसी आधार पर अर्थ-विज्ञान की तीन प्रमुख कोटियों का निर्धारण किया गया है : ध्वनिगत अर्थ, कोशगत अर्थ तथा प्रकरणगत अर्थ।

ध्वनिग्राम किसी भी एक बोली जानेवाली भाषा की वह विशिष्ट लघुतम सीमित ध्वनि है जिसका खंड नहीं किया जा सकता तथा निरपेक्षतः इसका कोई अर्थ भी नहीं होता। पद का परिचय देते हुए हम यह कह चुके हैं कि भाषा की ध्वनियाँ जहाँ से अर्थ की परिधि में प्रवेश पाती हैं, वहाँ से पदों की विवेचना प्रारंभ होती है। किंतु भाषा का यह ध्वनिग्राम अपनी भेदक विशिष्टता के कारण केवल ध्वनि का भेद ही प्रकट नहीं करता वरन् अर्थ का अंतर भी उपस्थित करता है :

का | ना = एक आँख का मनुष्य।
खा | ना = भोजन, भोजन करने की क्रिया।

अतः संदर्भगत विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि ध्वनिग्राम भी अर्थ-तत्त्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार पदों के पूर्व तथा अंत में लगने वाले बद्ध तथा स्वतंत्र पदग्राम भी अर्थ-विज्ञान में विवेच्य हैं, जो मुख्यतः कोश का कार्य है। प्रत्येक शब्द का प्रकृति-प्रत्यय-विश्लेषण कर उसका ऐतिहासिक विकास-क्रम निर्देशित करना ही निरुक्ति-व्युत्पत्ति की अभीप्सित प्रक्रिया

है। समाज की किस पृष्ठभूमि मे किस शब्द के क्या अर्थ थे पुनः परिवर्त्तित सदर्भ में उसने किस अर्थ का अपने को वाहक बनाया, इसकी सूचना तो वस्तुतः हमें व्युत्पत्ति से ही प्राप्त होती है। प्राचीन काल में 'गोष्ठम्' जहाँ गाय के रहने का स्थान था, वहाँ आज कवि तथा दो-चार सभ्यजन गोष्ठी रचा कर पारस्परिक वार्त्तालाप करते है। 'गोसाई' गायों के स्वामी ही नही आज प्रभुओं तथा उनके भक्तो के लिए भी प्रचलित है। किंतु इस प्रकार ऐतिहासिक अर्थ-विज्ञान को केवल धातुओं के विकास के साथ ही नही देख सकते, मनोवैज्ञानिक स्थिति तथा सामाजिक प्रचलन की सतह का ज्ञान इसके लिए अपेक्षित है। और, इसीलिए लुडविग विटजेन्स्टीन ने भी कहा था कि यथार्थतः शब्दो का अर्थ उनका प्रयोग ही है। और प्रयोग की सार्थकता तो उसकी सतत प्रवहमान गति में है। इस गति के कारण शब्दो में जो विकार होते रहते हैं, ब्रिल के अनुसार उनकी तीन कोटियाँ हैं: विस्तार, संकोच तथा आदेश।

अर्थ-विस्तार में हम उपर्युक्त उदाहरणों को भी ले सकते हैं, अर्थात् जिस शब्द ने अपनी केन्द्रीय अर्थवत्ता से अपने को अधिक विस्तृत कर अन्य अर्थ-परिधियों में प्रयोग की समर्थता पायी। 'तैल' शब्द जहाँ पहले 'तिल के सार' के लिए प्रयुक्त होता था, वहाँ अब यह प्रायः सभी तेल के सार के लिए कहा जाता है, तिल, नारियल, सरसों, मूंगफली का कोई सीमा-विरोध नही।

अर्थ-संकोच अर्थात् जहाँ शब्दो ने अपनी अर्थ-व्याप्ति को किसी विशिष्ट अर्थ में ही संकुचित कर लिया है। 'नेत्र' का प्रयोग जहाँ नेतृत्व करनेवाला, ले जानेवाला, प्रकाश करनेवाला था, वहाँ आज यह हमारे अंग-विशेष के लिए ही सीमित हो गया है।

अर्थादेश तात्पर्यतः मौलिक अर्थ की समाप्ति के पश्चात् किसी अन्य अर्थ के आदेश से है। यथा: दुहितृ—दुह्+तृच्=

'दुहनेवाली' नही, कन्या है। इस प्रकार अर्थ-विकार की जो स्थितियाँ हैं, वे तर्क पर निर्भर नहीं हैं, वरन् समाजाश्रित मनोविज्ञान पर आधारित हैं।

कभी-कभी हम देखते हैं कि कोश में एक शब्द के ही कई अर्थ भी दिये जाते हैं; किंतु इस प्रकार प्रयुक्त शब्द के अर्थ या उनके भाव प्रकरण से ही ज्ञात किये जा सकते हैं। 'सैन्धवमानय' से क्या अर्थ लिया जाय, यह तो वस्तुतः महाराज और अश्वपति की परिस्थितियों या प्रकरण पर अवलम्बित है।[1]

प्रकरणगत अर्थों की विवेचना करने के लिए बहु-अर्थक शब्दो का स्वरूप स्थिर करना भी आवश्यक है। बहु-अर्थक शब्द वे हैं जिनका एक विशिष्ट अर्थ तो अवश्य है; किंतु उसी के परिवेश में अन्य अनेक अर्थ-भाव घूमते रहते हैं। स्पष्ट रूप से समझने के लिए आप एक उदाहरण लें : दाँत। (१) यह हमारे शरीर का एक अंग है; (२) कंघी के भी दाँत होते हैं; (३) काँटी के भी दाँत होते हैं; (४) और बढ़ई भी लकड़ी काटने के लिए आरी के दाँतो को रेती से तेज करता है आदि। इसे आप चित्र के द्वारा भी समझें। [देखें पृष्ठ ६० का चित्र]

तो यह आपको मालूम है कि एक ही शब्द के कई अर्थ हैं और उन अर्थों का निश्चय प्रकरण करता है।

भाषा की उपरिखंडात्मकता भी अर्थों में विभेद उपस्थित कर देती है। आपने यदि गिरते हुए सुर में 'हुँ' कहा, तो वह स्वीकृति-उत्तर में लिया जायगा और यदि आपने अपनी भौंहों को ऊपर खींचते हुए उठते हुए सुर में उसी शब्द को दोहराया, तो

---

१. अर्थों की व्यंजना के लिए संस्कृत का एक कथन है :

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गम् शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यं मौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।

हम उसे जिज्ञासा-निषेध के अर्थ मे लेते है । इस प्रकार मात्र शब्द ही नही, वार्त्तालाप का प्रत्येक वाक्य अपनी लयात्मकता तथा सुर के कारण विभिन्न अर्थों का वाची बनता है। यह सर्वथा प्रकरण-सापेक्ष है। डब्लू० एम० अरबन ने[1] भी कहा है कि
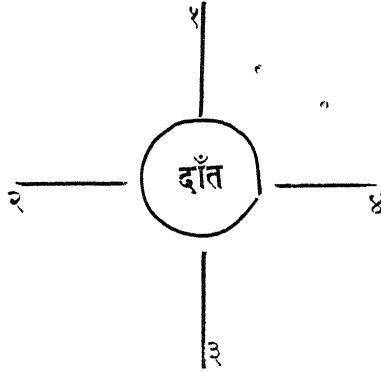
[पृष्ठ ५६ से सबंधित चित्र]

किसी भी शब्द का अर्थ अपने प्रकरण से पृथक नही होता। प्रत्येक अर्थ अपनी पृष्ठभूमि में एक सुसम्बद्ध प्रकरण लिए रहता है।

किंतु इतना कुछ विचार कर लेने के पश्चात् क्या यह संभव है कि हम अर्थों को ध्वनि, कोश तथा प्रकरण के अंतर्गत अलग-अलग रखकर विचार और प्रयुक्त करते हैं? यह तो वस्तुतः भाषा का प्रयोगकर्त्ता स्वयं गेस्टाल्ट-प्रक्रिया से शब्दो के भावार्थों को अनायास समझता हुआ बोलता रहता है। उसके लिए शब्दो को इस प्रकार टुकड़ो में विभक्त कर अर्थ प्राप्त करने की सचेष्ट क्रिया नही रहती, उसकी समग्रता मे ही उसके वांछित अर्थों की निधि अंतर्हित है।

---

1. Language and Reality : W. M. Urban, P, II.

तीसरा अध्याय

भाषा का भूगोल

भाषा का भूगोल

भाषात्मक भूगोल भाषाविज्ञान की वह शाखा है जिसके अंतर्गत एक व्यापक पृष्ठभूमि में स्थानीय बोली के स्वरूप की भूगोलगत विवेचना उपस्थित की जाती है। किसी भी भाषा के एटलस को लेकर, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र की बोलियों को, यदि आप तुलनात्मक रूप से देखें, तो भाषा का स्वाभाविक विकासमान स्तर आपकी दृष्टि में स्वतः स्पष्ट हो जायगा। शताब्दियों की कालावधि में भाषा में जो परिवर्त्तन हुए हैं, उन्हें आप भाषा के भौगोलिक एटलसों द्वारा भी प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए कहा भी जाता है कि भूगोल इतिहास का पूरक और सहायक दोनों ही है। किसी भी जीवित बोली से संबद्ध उसकी मात्रा, सुर, बलाघात के छान्दिक तत्त्वों की भिन्नता, वैदेशिक शब्द-ऋण, सामान्य शब्द-समूह आदि तथ्यों के क्षेत्रीय अंतर प्रदर्शित करने की यह पद्धति भाषा के परिवर्त्तनशील वस्तुसत्य को जानने के लिए बड़ी ही सुगम है।

भाषात्मक प्रक्रिया को अपेक्षाकृत अधिक दृढ़तापूर्वक समझने के निमित्त जर्मन नव्यवैयाकरणों (ब्रुगमैन, ओस्थॉफ, पॉल, डेलब्रूक आदि) ने प्रारंभ में ही बोलियों के अनुसंधान तथा इनके विश्लेषण की आवश्यकता अनुभूत की थी तथा इस प्रकार एतत्संबंधी कार्यों का उन्होंने श्रीगणेश भी कर दिया था। उन्होंने इस प्रकार के अध्ययन में इस संभावना को लक्ष्य कर लिया था कि बोलियों के विश्लेषण-विवेचन के द्वारा भाषा की वंश-परंपरा एवं उसका प्राचीन इतिहास ज्ञात कर लिया जा सकता है। लगभग इसी विचार से सन् १८७३ ई० में वाल्टर विलियम स्कीट ने 'इंगलिश डायलेक्ट सोसाइटी' की स्थापना की। किंतु स्कीट ने भौगोलिक परिदृश्य में बोलियों का अध्ययन नहीं किया जिसके कारण उसका स्वरूप एटलस का न होकर बोलीकोष का

हो गया। १८८५ ई० में सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन का क्रूक के 'मेटिरियल्स फॉर ए रूरल एंड एग्रीकल्चरल ग्लॉसरी ऑफ दि नौर्थ वेस्टर्न प्रोभिंसेज एंड अवध' (१८७६ ई०) के आदर्श पर 'बिहार पीजेंट लाइफ' का राजकीय मुद्रण-प्रकाशन हुआ। किंतु इसके संबंध में भी वस्तुतः वही बात रही। भौगोलिक दृष्टिकोण का अभाव तथा शब्द-संग्रह की कोशवैज्ञानिक दृष्टि ही प्रधान रही। भाषात्मक भूगोल का पिता यथार्थतः ज्यूल गिलिएरां ही है जिसके 'एटलस लिंगुइस्टीक द ला फ्रांस' (Atlas linguistique de la France — १९०२-१०) के प्रकाशन के पश्चात् इस शाखा का स्वरूप सुनिश्चित हो सका। गिलिएरां का यह कार्य उसके एक अत्यंत प्रतिभासम्पन्न क्षेत्रीय कार्यकर्त्ता एडमंड एडमंट के कारण ही सफलतापूर्वक समाप्त किया जा सका। अपनी प्रश्नावली को उत्तरित कराने के लिए गिलिएरां ने ६३९ स्थानों के उदाहरण संगृहीत करवाये। ये स्थल मात्र फ्रांस तक ही सीमित नहीं थे, वरन् फरांसिसी-भाषी बेल्जियम तथा स्विटजरलैंड-क्षेत्रों तक का इसके लिए उपयोग किया गया।

गिलिएरां का यह आदर्श बाद में कार्लज़बर्ग, जैकब ज़ूड, हंस कुराथ, सेवेर पॉप द्वारा अनुमोदित तथा परिष्कृत होता गया। और इस प्रकार, भाषा-विज्ञान की यह शाखा आधुनिक यंत्र-युग के समस्त वैज्ञानिक उपकरणों के साथ, अत्यंत निश्चयात्मक स्वरूप-सरलता के साथ आज उपस्थित हो गई है।

किसी भूगोल के मानचित्र पर जिस रेखा द्वारा हम भाषा की परिसीमा का निर्देश करते हैं उसे शब्दरेखा कहते हैं। भाषा की सूक्ष्म विशेषताओं को दर्शित कराने के लिए कभी-कभी विभिन्न रेखाओं की भी रचना की जाती है जिनमें ध्वनिरेखा, पदरेखा, अथवा वाक्यांशरेखा तथा सुररेखाएँ मुख्य हैं। जिस प्रकार मानचित्र पर उल्लिखित अक्षांश-देशांतर की रेखाएँ कल्पित हुआ करती हैं, उसी प्रकार प्रायः ये भाषा-मानचित्र

की रेखाएँ भी कल्पित हुआ करती हैं। यह शब्दरेखा एक ही प्रकार की बोली जानेवाली भाषा या बोली के एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाती है और इस प्रकार यह न केवल एक स्थल को दूसरे स्थल से मिलाती है, प्रत्युत यह एक भाषा-बोली के समरूपत्व एवं समधर्मत्व की परिधि का भी निर्माण कर देती है। भाषा की इन विभिन्न विशिष्टताओं को संकेतित करने की प्रक्रिया में हम क्षेत्रों की भी कई कोटियाँ देख लेते हैं। एक क्षेत्र तो वह होता है जिसकी बोली स्थिर होती है तथा जिसका अनुकरण दूसरी पड़ोस वाली बोली करती है; दूसरा भाषावशेष-क्षेत्र है जिसकी बोली अपनी ध्वनि और रूप को बहुत अधिक दिनों तक अपरिवर्त्तित रखती चली आती है। ऐसे क्षेत्र आवा-गमन की सुविधा से प्रायः पृथक रहते हैं जिनपर किसी प्रकार से सुविधापूर्वक बाह्य प्रभाव नहीं लादा जा सकता है। और तीसरा वह परिवर्त्तनशील क्षेत्र है जो सर्वदा परिवर्त्तन की प्रक्रिया में होता है तथा जिसपर नित्य नवीन बाह्य प्रभाव पड़ते रहते हैं। फलतः इस क्षेत्र की बोलियाँ बाह्य कारणों से सतत परि-वर्त्तन के क्रम में रहती हैं।

प्रथम क्षेत्र को हम आधिश्रयणिक क्षेत्र कहते हैं। ऐसे क्षेत्र सामाजिक कार्यों के केंद्र होते हैं जहाँ मनुष्य क्रय-विक्रय, विधि-व्यापार, तथा राजनीति-प्रशासन, तीर्थाटन आदि के लिए आते रहते हैं। प्रकारांतर से ऐसे केंद्र अंतर्संस्कृति-केंद्र हुआ करते हैं, जो बराबर दूसरे क्षेत्रों पर अपनी महत्ता का प्रभाव डालते रहते हैं।

शब्दरेखाएँ सीमात्मक विभाजन की रेखाएँ नहीं हैं; वह बोलियों की संधिरेखाएँ हैं, जहाँ दो बोलियाँ या उनके दो विशिष्ट गुण मिलते हैं। बोली के सतत प्रवहमान रूप के कारण ये रेखाएँ भी बड़ी संकुचनशील हुआ करती हैं।

आधिश्रयणिक भाषा-केंद्र को छोड़कर जब कोई जाति बाहर प्रयाण करती है तब वह किस प्रकार अपने भाषावशेष को स्थिर

तथा सुरक्षित किये रहती है, इसके कुछ संकेत हमने बोली पर विवेचन करते हुए किये है। कनाडा-स्थित फ्रेंच वॉल्टेयर की भाषा का ही अवशिष्ट रखे हुए है, अमेरिकन अंगरेजों ने शेक्सपीयर की अंगरेजी ही जीवित रखी है। समुद्र, नदी का दुर्लंघ्य पट-विस्तार, सघन वन, दुर्गम पर्वत-घाटियाँ, विशाल रेगिस्तान, कृत्रिम राजनीतिक सीमा-विभेद आदि एक बोली-समूह को दूसरे से भिन्न कर देते है। किंतु जहाँ कहीं ऐसी परिस्थितियों मे पारस्परिक सपर्क स्थापित करने के कुछ साधन वर्त्तमान हो जाते है, वहाँ नई अभिव्यक्ति-शैलियों का भी विस्तार होने लगता है।

स्थान नामों का अध्ययन भी इसी शाखा के अंतर्गत है यद्यपि स्थान नामों के अध्ययन ने स्वय एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप से अपनी स्वीकृति करा ली है। अमेरिका में डिपार्टमेंट ऑफ इन्टीरियर के विशेष विभाग द्वारा स्थान नामों के वैज्ञानिक अनुसंधान को पर्याप्त बल और महत्ता भी मिल गई है जहाँ राज्यों, नगरों, पहाड़ों, नदियों, झीलों आदि प्राकृतिक भौगोलिक स्थितियों की विस्तृत नाम सूची द्वारा स्थान नामों की प्रागैतिहासिकता ऐतिहासिकता की सविस्तर आलोचना प्रस्तुत की जा रही है। भाषा तो बड़ी परिवर्त्तनशील है; किंतु स्थान नामों का परिवर्त्तन इतनी शीघ्रता से नहीं होता। अतः स्थान नामों के विश्लेषण से ऐतिहासिक तथ्यपूर्ण सामग्रियों का आकलन बहुत निश्चयपूर्वक किया जाता है।

भाषात्मक भूगोल का पंडित वस्तुतः यह विचार करने लगा है कि किन कारणों से भारतवर्ष को हिंदुस्तान का अभिधान मिला? उत्तर भारत और दक्षिण भारत के विभाजन का क्या आधार है? कुसुमपुर से पटना कैसे बना? धमदाहा और पुरन्दाहा की क्या व्युत्पत्ति है? और इस प्रकार उसके विवेचन का एक ऐतिहासिक तार्किक आधार भी है, जो मननीय होने के साथ ही हमारे ज्ञान को अभिवृद्ध करने मे पूर्ण समर्थ-सक्षम है।

परिशिष्ट–१

आकर साहित्य-सूची

[वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान की कुछ प्रसिद्ध पुस्तकों की सूची यहाँ दी जा रही है, जो इस क्षेत्र के प्रारंभिक अध्ययन-स्तर की दृष्टि से आवश्यक हैं। भाषा-विज्ञान के उत्तरोत्तर विकास को देखते हुए, उसकी अध्ययन-प्रवृत्ति से परिचित होने के लिए सामयिक पत्र-पत्रिकाओं को देखते रहना भी समीचीन ही है। फलस्वरूप कुछ पत्रिकाओं के नाम भी दिये जा रहे हैं। हिंदी में पूर्णतः भाषा-विज्ञान तथा उसकी समस्याओं को लेकर मात्र एक ही पत्र—'भारतीय साहित्य', आगरा विश्वविद्यालय, आगरा, निकलता रहा है; किंतु ऐसे और भी पत्र-साहित्य के प्रकाशन की व्यवस्था की जानी चाहिए।]

1. **An outline of English Phonetics** : Daniel Jones, —Cambridge, Heffer 1956
2. **The Phonetics of English** : Ida Caroline ward, Cambridge, Heffer, 1945.
3. **Phonetics** : A Critical Analysis of Phonetic theory and a technique for the Practical Description of Sounds, Ann Arbor, University of Michigan Press, 1943.
4. **General Phonetics** : Roe-Merrill Secrist Heffner, Medison, University of Wisconsin Press, 1949

5. **A Manual of Phonology** : Charles F. Hockett, Baltimore, Waverly Press, 1955

6. **Speech and Hearing in Communication** : Hervey Fletcher, 1953.

7. **Hearing : Its Psychology and Physiology** : Stanley Smith Stevens and Hallowell Davis, New York, Wiley, 1947

8. **Science and music** : Sir James Jeans, Cambridge University Press, 1937.

9. **The Physical Background of Perception** : Lord Adrian. oxford clarendon Press, 1947.

10. **Visible speech** : Ralph Kimball Potter, New-York, Van Nostrand, 1947.

11. **Acoustic Phonetics** (Language Monograph 23) : Martin Joos : Baltimore, Waverly Press, 1948.

12. **A Set of Postulates for the science of language** (Language 2, 1926) : Leonard Bloomfield, U. S. A.

13. **Outline of Linguistic Analysis** : Bernard Bloch & George Leonard Trager : Linguistic Society of America, Baltimore, Waverly Press, 1942.

14. **Selected writings of Edward Sapir** : Edited by David G. Mandelbaum, University of California Press, 1949.

15. **Phonemics** : K. L. Pike; Michigan University Press, 1947.

16. **The Phoneme** : Its nature and use : Daniel Jones, Cambridge, Heffer, 1950.

17. **The Alphabet :** A key to the History of mankind; David Diringer London. Hutchinson, 1948.

18. **A Study of writing :** The foundation of Grammatology : Ignace Jay Gelb—London, 1952

19. **Semitic writing :** From Pictograph to Alphabet : God Frey Rolles Driver, Oxford Universitp Press, 1954.

20. **Structuralism in Modern Linguistics**—Bruno Cassirer verlag, (lecture appeared in 'word' U. S. A. 1945)

21. **Signs, Language and Behavior :** Charles Morris, Prentice—Hall. N. Y. 1946,

22. **Language & Reality :** The Philosophy of language and the principles of symbolism : By Wilbur Marshall urban, Allen and unwin, London, 1951.

23. **Handbook of English Intonation :** L. E. Arm strong and I. C. Ward, Cambridge, 1926.

24. **The Intonation of American English :** K. L. Pike, Ann Arbor, University of Michigan Press, 1946,

25. **Studies in French Intonation :** L. E. Arm strong and Nathalic, Cambridge, Heffer, 1934.

26. **A bibliographical guide to the Russian Pronunciation :** by Boris ottokar unbegaun. Oxford Press. 1953.

27. **Morphology**, The Descriptive Analysis of words : Eugene Albert Nida, Ann Arbor, 1949

28. **Methods in structural linguistics** : Zellig Sabbetai Harris, Chicago University Press, 1952.

29. **Dictionary of selected Synonyms in the Principal Indo-European languages** : Carl Darling Buck, Chicago University Press, 1949.

30. **Subject and predicate** : Manfred Sandmann Edinburgh 1954.

31. **Analytic Syntax** : Otto Jespersen, Allen and Unwin, London, 1937.

32. **Language** : Bloomfield, Newyork, Holt.

33. **An Introduction to modern Linguistics** : Robert Palmer, Macmillan, London, 1939.

34. **An Introduction to Descriptive Linguistics** : H. A. Gleason Jr. New York, Holt, 1955.

35. **Languages in contact** : Findings and Problems : Uriel Weinreich, New York Linguistic Circle, 1953.

36. **Handbook of the linguistic Geography of New England** :—Hans Kurath, Brown University Press, 1936.

37. **A Word Geography of the Eastern United States** : Hans Kurath, Ann Arbor, Michigan University Press, 1949.

38. **Introduction to a survey of scottish dialacts,** Angus McIntosh, Edinburg, 1952.

39. **A Questionnaire for a linguistic Atlas of England :** —Engen Dieth and Harold Orton leads philosophical and literary society's proceedings, 1952.

40. **The linguistic Atlas of the United States and Canada**—Hans Kurath, M. L. Hanley and Bloch, Michigan, 1939.

41. **The meaning of meaning**—C. K. Ogden and I. A. Richards, London, 1939.

42. **The theory of speech and language**—Sir Alan Gardiner, Oxford, 1932.

43. **Hindi Semantics**—Hardeo Bahri Allahabad, 1960.

44. **The principles of Semantics**—Stephen Ullmann Glasgow, 1951.

45. **Language, truth and logic**—Alfred Jules Ayer, Gollancz, London, 1936.

46. **Thinking and experience**—Henry Habberley Price, Hutchinson, London, 1953.

47. **Language and the study of language**—William Dwight Whitney, Scribner • Armstrong, New York.

48. **Aspects of language**—William James Entwistle Faber and Faber, London, 1953.

49. **Language, A modern Synthesis**—Joshua Whatmough, Secker and Warburgh, London, 1956.

50. **Language** : Thought and Reality—Edited by John Bissel Carroll, Wiley, New York, 1956.

51. **The study of language**, A survey of linguistics and Related Discipline in America —Report of Harvard University Press, 1953.

52. **सामान्य भाषाविज्ञान**—डॉ० बाबूराम सक्सेना, इलाहाबाद।

53. **Behar Peasant life**—G. A Grierson. Govt. Press, Bihar, 1926.

54. **Linguistic Survey of India (complete vols.)**—G. A. Grierson.

55. **Linguistic survey of Manbhum**—Dr. Bishwanath Prasad and Dr. Sudhakar Jha, Rastrabhasa Parishad, Patna.

56. **भोजपुरी भाषा और साहित्य**—डॉ० उदयनारायण तिवारी, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, २०१० संवत।

57. **भारतीय आर्य भाषा और हिंदी**—डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९५४।

पत्र-पत्रिकाएँ

1. **The International Journal of American linguistics** —Franz Boas (since 1925.)
2. **American speech**—Columbia University Press (since 1925.)
3. **Language**—linguistic society of America (since 1925).
4. **Word**—Linguistic circle of New York (since 1945.)
5. **Dialect Notes**—American dialect society.
6. परिषद् पत्रिका—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना (१६६१ से)
7. **नागरी प्रचारिणी पत्रिका**—काशी ।
8. **भारतीय साहित्य**—आगरा विश्वविद्यालय हिंदी विद्यापीठ, आगरा ।

पारिभाषिक शब्द-सूची

A

Ablative अपादान
Absolute निरपेक्ष
Abstract अमूर्त
Accent स्वराघात, बल
Accusative कर्म (कारक)
Accidental आकस्मिक
Active कर्त्ता (कारक)
Active language गतिशीलभाषा
Acute उदात्त
Acute accent—उदात्त स्वर
Adjective विशेषण,
Adjectival case विशेषणानुसारी कारक
Adverb क्रियाविशेषण
Affix प्रत्यय
Affiricate स्पर्श-संघर्षी
Agglutinative } योगात्मक
Agglutinating }
Agreement अन्वय
Altermative विकल्प
Alveolar (Postdental) वर्त्स्य
—region, zone वर्त्स्य प्रदेश
Analogy सादृश्य
Analysis विश्लेषण
Analytic विश्लेषणात्मक, वियोगात्मक
Analytic languages विश्लेषणात्मक भाषाएँ
Appical अग्र
Apraxia अर्थबोध की असमर्थता
Arbitrary यादृच्छिक
Archaic शास्त्रीय (प्राचीन)
Area प्रदेश
Articulate उच्चारण करना
Articulate sound वर्णात्मक ध्वनि
Aspirate महाप्राण
Aspirated महाप्राणयुक्त
Assimilation समीकरण
Association साहचर्य
Auditory श्रुतिग्राह्य

B

Back पश्च
—of tongue पश्च जिह्वा
—vowel पश्च स्वर
Base आधार
Bilabial द्वयोष्ठ्य
Blade of the tongue जिह्वाग्र
Bound बद्ध
Boundary सीमा
Breath श्वास
Breathed (sound) अघोष
Buccal cavity मुखविवर

C

Cardinal Consonants मूल व्यंजन
Candinal vowels मूल स्वर
Case कारक
Case ending विभक्ति
Categories कोटियाँ
Cavity विवर
Cerebral मूर्धन्य
—sounds मूर्धन्य ध्वनियाँ
Change परिवर्त्तन
Chronology कालक्रम
Class वर्ग
Classical साहित्यिक भाषा
Close संवृत, बंद
Cognate सजातीय, जन्मगत
Comparative तुलनात्मक
Complex मिश्र
Component संघटकतत्त्व
Compound समास
—sentence संयुक्त वाक्य
Conjugation क्रियारूप
Conjunction समुच्चयबोधक
Consonant व्यंजन
Construction रचना
Contamination मिश्रण
Contex प्रसंग, संदर्भ
Contignity सन्निधि
Continuant सतत प्रवाही
Contraction संकोचन
Convention रूढि
Copula संयोजक
Correlation पारस्परिक संबंध
Court language राजभाषा
Criterion निकष, कसौटी
Cunieform कीलाक्षर

D

Dative संप्रदान
Declension संज्ञारूप
Definition परिभाषा
Degree मात्रा
Delimitation सीमा-निरूपण
Dental दंत्य
Derivation व्युत्पत्ति
Descriptive वर्णनात्मक
Devoiced plosive अघोष स्पर्शवर्ग
Diachronic ऐतिहासिक
Diagram रेखा चित्र
Dialect बोली
Dialectology बोली-विज्ञान
Differentia भेदक गुण
Dipthong संध्यक्षर
Displacement आदेश
—of meaning अर्थादेश
Dissimilation विषमीकरण
Divine origin दिव्य उत्पत्ति, ईश्वरीय देन
Duration काल मात्रा

E

Echo-word अनुरणात्मक शब्द
Effort प्रयत्न
Elemant तत्त्व
Exclamation विस्मयादिबोधक
Explosives बहिःस्फोटक
Explosive sound स्फोट ध्वनि
Extension विस्तार
—of meaning अर्थविस्तार

F

Fallacy भ्रांति
Falling गिरते हुए
Family of languages भाषा-परिवार
Flap उत्क्षेप
Flapped sound उत्क्षिप्त ध्वनि
Form रूप
Focal आधिश्रयणिक
Friction घर्षण
Fricatives संघर्षी
Front of the tongue जिह्वाग्र
Front vowel अग्रस्वर

G

Geneological classification पारिवारिक वर्गीकरण
Genetic classification उत्पत्तिमूलक वर्गीकरण
Genetive सम्बन्ध
Gesture language संकेत-भाषा
Glide श्रुति
Gottal कंठद्वारीय
—stop कंठद्वारीय स्पर्श
Grave accent अनुदात्त स्वर

Half close आधा बंद, अर्द्ध संवृत
Half open आधा खुला, अर्द्ध-विवृत
Hard palate कठोर तालु
Hieroglyphic (pictorial script) चित्र लिपि
High vowel उच्च स्वर

I

Ideograph भावलिपि
Idiolect वैयक्तिक बोली
Image मूर्त्ति
Imitative अनुकरणात्मक
Implosion अंतः स्फोट
Implosive sound अंतः-स्फोटात्मक ध्वनि
Inarticulate sound अव्यक्त ध्वनि
Incorporating languages समास प्रधान भाषाएँ
Indo-European भारोपीय
Infix agglutinating योगात्मक अंतःप्रत्यय
Inflecting language विभक्ति प्रधान भाषा
Inflexion विभक्ति
Intervocal द्विस्वरान्तर्गत
Intonation (pitch) स्वर, सुर

Isogloss शब्द रेखा
Isographs शब्दरेखा चित्र,
Isophonic—ध्वनि रेखा,
Isotonic—सुररेखा,
Isomorphic—पद रेखा,
Isosyntagmic वाक्यांश रेखा •
Isolating languages अयोगात्मक भाषाएँ

J

Juxtaposing languages यौगिक भाषाएँ

L

Labial ओष्ठ्य
Labio-Dental दंतोष्ठ्य
Larynx स्वर-यंत्र
Lateral पार्श्विक
Length (accent) मात्रासूचक आघात
Lexicon कोश
Linguistic भाषात्मक, भाषा-संबंधी
—Geography भाषा का भूगोल
Lip ओष्ठ, ओठ,
—lower नीचे के ओठ,
—upper ऊपर के ओठ,
Living language जीवित भाषा
Loan ऋण
Low vowel निम्न स्वर
Locative अधिकरण
Long (vowel) दीर्घ स्वर

M

Map मानचित्र
—Linguistc भाषा मानचित्र
Manner प्रयत्न
Meaning अर्थ
Mechanism of Production उच्चारण-अवयव
Mid vowel मध्य स्वर
Mental मानसिक
Modification विकार
Morpheme पदग्राम
Morphological पदाकृतिमूलक
—classification आकृतिमूलक वर्गीकरण
Morphology पद विज्ञान
Mouth cavity मुखविवर

N

Nasal नासिक्य
—Cavity नासिका विवर
Nasal plosion नासिक्य स्फोट
Nominative case कर्त्ता कारक
Non-aspirate अल्प प्राण
Non-linguistic भाषिकेतर

O

Object उद्देश्य
Oblique form विकारी रूप
Onomatopoeia अनुरणन
—tic theory अनुरणनात्मक मूलक वाद
Open खुला हुआ, विवृत

Oral cavity मुख विवर
Organ अवयव

P

Palatal तालव्य
Palate तालु
Paradigm शब्दरूप निदर्शन
Potois स्थानीय बोली
Pause विराम
Person पुरुष
Pharynx उपालिजिह्वा
Phoneme ध्वनिग्राम, स्वन ग्राम
Phonetics ध्वनि विज्ञान
Phonology ध्वनि प्रक्रिया विज्ञान
Pitch सुर
Plosion स्फोटन
Polysemy बहुअर्थक
Polysynthetic language बहुसंश्लेषणात्मक भाषा
Post पश्च
—Position परसर्ग
Predicate विधेय
Prefix योगात्मक पूर्वप्रत्यय, उपसर्ग
Prosody राग, राग-तत्त्व

Q

Quality गुण

R

Reaction प्रतिक्रिया
Response उत्तर
Relative सापेक्ष
Restriction of meaning अर्थसंकोच
Retroflex मूर्धन्य
Relic –(area) भाषावशेष (क्षेत्र)
Rolled लुंठित
Root धातु
Round गोल

S

Semantics अर्थविज्ञान
Segment खंड
Semansiology, Semantology अर्थप्रक्रिया विज्ञान
Semanteme अर्थतत्त्व
Sentence accent वाक्याघात
Sequence अनुक्रम
Sesmiology अर्थविचार
Short vowel ह्रस्व स्वर
Sibilant ऊष्म
Sign चिह्न
Symbol प्रतीक
Syllable अक्षर
Super उपरि
—Segment उपरिखंड
Sonant घोष
Sound box ध्वनिपिटक
Sound ध्वनि
Spirant ऊष्म
Standard प्रतिमिति, आदर्श
Statement कथन, वक्तव्य
Stem मूल धातु
Stop स्पर्श
Stress बलाघात

Structure गठन, स्थापत्य
Subject उद्देश्य, कर्त्ता
Suffix प्रत्यय
Surd अघोष
Synchronic संकालिक
Syntactical वाक्य विन्यासात्मक
Syntactics वाक्यविज्ञान
Synthetic language संश्लेषणात्मक भाषा

T

Teeth दाँत
—ridge दंतकूट
Terminology पारिभाषिक शब्दावली
Testimony साक्ष्य, प्रमाण
Tip of the tongue जिह्वाग्र
Toponym स्थान-नाम
Transition परिवर्त्तनशील
Trill कंपनयुक्त
Tube नालिका
Tree-stem theory धातुवृक्षवाद

U

Unaspirated अल्पप्राण
Unaccented अनाहत
Unflapped अनुत्क्षिप्त
Uniformity एकरूपता
Unit इकाई
Unrounded अगोलीकृत
Unvoiced अघोष
Uvula अलिजिह्वा

V

Variability परिवर्तनशीलता
Velar कंठ्य
Velum कोमल तालु
Vibration कंपन
Visible दृश्य
Vocabulary शब्दावली
Vocal cord स्वर तंत्र (?)
—organ उच्चारणावयव
Vocative case संबोधन कारक
Voice नाद (वाच्य)
Voiced सघोष
Voiceless अघोष
Voluntary इच्छापूर्वक
Vowel स्वर

W

Wave theory लहरवाद
Whisper फुसफुसाहट
Wind-pipe श्वास-नालिका
Word शब्द, पद
—formation शब्द-रचना, पद-रचना

Z

Zero शून्य
—inflexion शून्य विभक्ति
Zone प्रदेश, क्षेत्र

—::o::—